आत्मानबोध।

श्रीमहावीर मिशनका प्रथम पुष्प ।

श्रीमज्जयशेखर सूरि विरचित

आत्मावबोध ।

प्रकाशक,
मुकुंददास मोतीलाल मुणोत
तथा
आनन्दराम केशरचंद बाँठिया,
पनवेल ।

अनुवादक,
उदयलाल काशलीवाल ।

प्रथम संस्करण ।

मूल्य आत्मलीनता ।

भाद्रपद शुक्ल,
१९७४ ।

प्रकाशक—
मुकुंददास मोतीलाल मुणोत
तथा
आनन्दराम केशरचंद बाँठिया,
पनवेल।



मुद्रक—
चिंतामण सखाराम देवळे,
बम्बई-वैभव-प्रेस, सर्व्हंट्स-ऑफ-इंडिया,
सोसायटीज होम, सँढर्स्ट रोड,
गिरगाँव, बम्बई।

यह पुस्तक
जैनधर्मोपदेशक
श्रीयुक्त मुनि श्रीलालचन्दजी महाराजके
उपदेशसे प्रेरित होकर,
पनवेल-निवासी
मुकुन्ददास मोतीलाल मुणोत
तथा
आनन्दराम केशरचन्द बाँठियाने
प्रकाशित कर
जैन-बन्धुओंके
हितार्थ
बिना मूल्य
वितीर्ण
की।

प्रस्तावना ।

मूल पुस्तक प्राकृत भाषामें है । इसके कर्त्ता श्रीमज्जयशेखर सूरि हैं । इसके भाव बड़े सीधे-सादे और सरल हैं । उन्हें पढ़ कर सर्व-साधारण ग्रन्थकर्त्ताके भावोंको बड़ी अच्छी तरह समझ सकते हैं । प्रसिद्ध वक्ता पं० फतेचंद कपूरचंद लालनने पहले गाथाओंका संक्षिप्त अर्थ लिख कर उस पर फिर विशेष विवेचन किया है । पं० लालनका यह सरलार्थ और विवेचन गुजराती भाषामें है । जहाँ तक हमारा खयाल है, इस विवेचनसे पंडितजीका उद्देश्य यह होगा कि ग्रन्थकर्त्ताके भावोंको साधारण पाठक भी सरलता और विस्तारके साथ समझ जायँ । और यही उद्देश्य होना भी चाहिए । परन्तु जब हमने इस विवेचनको लिखना आरंभ किया तब हमें जान पड़ा कि पंडितजीको जिस अभिप्रायसे विवेचन लिखना चाहिए था उसमें वे बहुत ही थोड़ी सफलता लाभ कर पाये हैं । विवेचन होना तो चाहिए था बहुत ही सरल, सुबोध और उतना ही कि जितना उपयुक्त होता; परन्तु इसके विपरीत वह बहुत ही जटिल और इतना विस्तृत हो गया है कि आवश्यकतासे अधिक जान पड़ता है । इसका कारण पंडितजीके ही शब्दोंमें, जो कि उन्होंने हमसे कहे थे, यह हो सकता है कि ' वे लेखक नहीं है । ' और उनकी इस स्पष्ट वादिता पर हमें बड़ी प्रसन्नता है । अस्तु ।

इसकी हिन्दी करनेका सौभाग्य मुनि श्रीलालचंदजीकी कृपासे हमें प्राप्त हुआ । पंडितजीके जटिल विवेचनको सरल, सुसम्बन्ध बनानेके लिए हमें बड़ी कठिनताका सामना करना पड़ा । और इसी लिए कहीं कहीं तो अंशके अंश परिवर्तन करके नये रूपसे लिखना पड़े हैं, और कहीं कहीं अनुपयोगी अंशको छोड़ देना पड़ा है । पर ऐसे परित्यक्त अंश बहुत थोड़े हैं । कारण इस विवेचनमें पंडितजीने जो उपमा-उपमेयकी छटा छिटकाई है, डर था कि उसे सर्वथा छोड़ देनेसे प्रकाशक महाशय कहीं असन्तुष्ट न हो जायँ । इतने पर भी हमें आत्म-विश्वास नहीं कि हम जैसी चाहिए वैसी सफलता लाभ कर सके हैं । परंतु इतना अवश्य है कि इसे लिखते समय हमारा ध्यान हर समय यह बना रहा है कि हम जो कुछ लिखें

उसे पाठक सरलतासे समझलें। हिन्दीके साथ गुजराती विवेचनका मिलान करनेसे पाठकगण हमारे कथनको सप्रमाण देख सकेंगे। इतने पर भी कोई ऐसा अंश हमारे विवेचनके रूपान्तरमें पाठकोंको जान पड़े कि जो उनकी समझमें न आया हो तो कहना चाहिए कि उसे उसी रूपमें रहने देकर सरल लिख देना हमारी शक्तिके बाहर था। परन्तु ऐसे कई अंशोंका हिन्दी-रूपान्तरमें हमने पं० लल्लनको सुनाया है और उसे उन्होंने बहुत पसन्द किया है। इस पर भी हम अपनी असमर्थताको न छुपा कर पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं।

विनीत—

उदयलाल काशलीवाल।

श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीमद्राजशेखरसूरि-विरचित

आत्मावबोध ।

मंगल—

धम्मप्पहारमणिज्जे पणमिय जिणं महिंदनमणिज्जे ।
अप्पावबोहकुलयं वुत्थं भवदुहकयपलयं ॥ १ ॥

धर्मप्रभारमणीयान् प्रणम्य जिनान्महेन्द्रनमनीयान् ।
आत्मावबोधकुलकं वक्ष्ये भवदुःखकृतप्रलयम् ॥

अर्थात् जो अपने आत्मीय तेजसे सुन्दर और इन्द्र द्वारा पूज्य हैं उन जिन भगवानको प्रणाम कर मैं संसारके दुःखोंका नाश करनेवाले 'आत्मावबोध' नामक ग्रन्थको कहता हूँ ।

विवेचन—जिस भाँति चन्द्रमा अपनी कान्तिसे लोगोंको सुन्दर जान पड़ता है, उसी भाँति आत्माकी अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्रादिमयी स्वाभाविक कान्तिसे विराजित जिन भगवान भव्यजनोंको सुन्दर जान पड़ते हैं इस प्रकारकी आत्म-प्रभासे जिनने सारे मोहान्धकारको नष्ट कर दिया औ

जिन्हें स्वर्गका इन्द्र भी प्रणाम करता है उन जिन प्रभुको मैं प्रणाम कर संसारके दुःखोंका नाश करनेवाला—आत्माका अनुभव करानेवाला—यह 'आत्मप्रबोध' नामक ग्रन्थ लिखता हूँ।

सब नक्षत्रोंमें जिस भाँति चन्द्रमा प्रधान है, उसी भाँति संसारके सब द्रव्योंमें आत्मा मुख्य है। जिस भाँति सब कान्तियोंमें चन्द्रमाकी कान्ति शीतल-सुन्दर है, उसी भाँति सब ज्ञानोंकी कान्तियोंमें स्वाभाविक आत्मज्ञानकी कान्ति सुन्दर है। ताराओंके तेजके जैसा व्याकरण-ज्ञान, शुक्र नक्षत्रके उजेलेके जैसा काव्यज्ञान और सूर्यके प्रकाश जैसा नयज्ञान ये तीनों जातिके ज्ञान उस ज्ञानके सामने कुछ महत्त्वके नहीं जो त्रिभुवनसे सारे मोहान्धकारको नष्ट कर चन्द्रमाकी चाँदनीके जैसा शान्त और लोकालोकको अपनी प्रभासे प्रकाशित करनेवाला है। वह ज्ञान है आत्मज्ञान।

वैद्यकका ज्ञान रोग नष्ट कर शरीरको निरोग और बलशाली बनाता है; परन्तु वह अनन्त कालसे चले आनेवाले जन्म-मरण-रूप रोगको नष्ट नहीं कर सकता। व्याकरणका ज्ञान शब्दोंकी अशुद्धियोंको दूर कर सकता है; परन्तु आत्मज्ञानके बिना मिथ्याभाषण-रूप अशुद्धिको दूर नहीं कर सकता। नयज्ञान बुरे विचारोंको हृदयसे निकाल देनेका बहुत यत्न करता है, परन्तु वह वस्तुओंका इन्द्रिय-सहाय-रहित प्रत्यक्ष ज्ञान करा कर मनकी चिन्ताओंको नहीं मिटा सकता।

काव्यज्ञान कुछ समयके लिए रोग-शोक चिन्ता-दुःख आदिको भुला कर हृदयमें जरा शान्ति उत्पन्न करता है और थोड़ी देरके लिए उसे आर्द्र भी कर देता है, परन्तु यह शान्ति—यह हृदयकी आर्द्रता—आत्मज्ञानके बिना अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकती।

यद्यपि ये सब प्रकारके ज्ञान आत्माका उपकार अवश्य करते हैं, परन्तु जब तक हृदयके भीतरसे सब राग-द्वेषादि दोष नष्ट होकर निर्मल आत्म-ज्ञानकी प्रभाका लाभ न होगा तब तक मृत्युसे छुटकारा पाकर

निर्वाण-लाभ नहीं किया जा सकता—संसारका परिभ्रमण नहीं छूट सकता; वाणीके असत्य, अप्रिय और अहित करनेवाले दोष नष्ट नहीं हो सकते; पूर्ण-सत्य नहीं बोला जा सकता—यहाँ तक कि प्रिय और हितरूप भी नहीं बोला सकता। और न यही बोला जाता कि जिससे जीवमात्र वाणीके दोषोंको समझ सकें। इसके सिवा कषायें नष्ट होकर वस्तुका यथार्थ ज्ञान भी नहीं हो पाता। इन सब बातोंका मूल कारण एक आत्मज्ञान ही है।

आत्मज्ञानके बिना राग-द्वेष-रूप रोग नष्ट नहीं हो सकते और बिना ऐसा हुए सुख-शान्तिका आस्वाद नहीं लिया जा सकता। इस कारण सबसे पहले आत्मज्ञान प्राप्त करो; और फिर आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार करके वैद्यकज्ञान प्राप्त करो। उससे शरीरकी सब व्याधियाँ नष्ट होंगी, तुम तेजस्वी बनोगे और फिर क्रम-क्रमसे वज्रवृषभनाराच-संहनन-युक्त अपूर्व सुन्दर शरीर प्राप्त कर सकोगे।

अन्तमें इसी आत्म-बल द्वारा तुम्हारा शरीर कायोत्सर्ग ध्यानमें अचल अडिग रह सकेगा और तुम निर्वाण लाभ कर सकोगे। उस अवस्थामें तुम अनन्त काल तक जीओगे और आत्म-जन्य अनन्तज्ञानादि सुख भोग सकोगे।

व्याकरण-ज्ञान इसलिए प्राप्त करना चाहिए कि शुद्ध, सरल, सत्य, प्रिय और हितरूप बोला जा सके, आत्माका प्रत्यक्ष भान हो सके। परन्तु इसके पहले आत्मज्ञान द्वारा हृदय-वाणीको सुगंधित करनेकी आवश्यकता है। जिससे कि झिरसे निकलते हुए निर्मल जलकी भाँति तुम्हारे वचन सबको मृदु-मधुर-शीतल और हितरूप जान पड़ें।

इसी भाँति पहले आत्मज्ञान प्राप्त कर बाद नयज्ञान प्राप्त करो। जानते हो इस नयज्ञान द्वारा वस्तुका यथार्थ जानपना होता है और फिर हृदयमें

जो कुछ विचार उत्पन्न होते हैं वे नय-गर्भित होते हैं—उनमें फिर असंगतता, विरुद्धता, असत्यता नहीं रहती।

योगज्ञानके प्राप्त करनेका भी यही मार्ग उत्तम है। पहले जिन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो लेता है फिर ऐसे लोग वेश्या या परस्त्रियोंके फन्देमें नहीं फँसते। उनके हृदयमें अपूर्व शान्ति उत्पन्न हो जाती है और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द व्याप्त हो जाता है। और अन्तमें वे लोग अनन्त सौन्दर्य-शालिनी शिव-सुन्दरीके साथ पाणिग्रहण करके अनन्त काल तक सुख भोगा करते हैं—उन्हें फिर संसारमें नहीं आना पड़ता। इसी लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि आत्मज्ञान भव-भवके दुःखोंका सर्वथा नाश करनेवाला है और सब प्रकार सुखोंको प्राप्त करा कर अविनाशी मोक्ष-सुखका देनेवाला है।

इस आत्मज्ञान या आत्मानुभवके सम्बन्धमें एक कवि कहता है—

अनुभव-रस चिन्तामणी, अनुभव सिद्ध-स्वरूप।
अनुभव मारग मोक्षका, अनुभव केवल-रूप॥

इस प्रकार आत्मानुभवका फल बतला कर ग्रन्थकार भव्यजीवोंके प्रति कहते हैं, कि जिस भाँति सर्व-श्रेष्ठ आत्मज्ञानी जिन भगवानको मैं प्रणाम करता हूँ उसी भाँति तुम भी करो। अर्थात् उनके गुणोंको अपने हृदयमें धारण करो, वचनोंसे उनका वर्णन करो और शरीरको उनसे भूषित करो। गुरु महाराज कहते हैं कि, जिन्हें पूर्ण आत्मज्ञान हो चुका है उन्हें प्रमाण करनेसे, उनके गुणोंका अधिक अधिक चिन्तन करनेसे आत्माके सब गुण प्रगट होते हैं। और आत्म-सूर्यका उदय होकर हृदयाकाशसे द्वेष-रूपी काले बादल और राग-रूपी सफेद बादल नष्ट होते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु यह ज्ञान-सूर्य फिर कभी अस्त न होकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदिकी स्वाभाविक प्रभासे लोकालो-प्रकाशित कर संसारसे मोहान्धकारका नाश करेगा।

इस बातसे इंकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य सुख-दुःख-रूपी छोटे बड़े गढ़ोंमें गिरते पड़ते और संसारमें घूमते फिरते मोक्षकी प्रधान आत्मज्ञान-रूपी सीधी सड़क पर आ जायगा; परंतु गुरुमहाराजका कहना है कि इस चौदह राजू प्रमाण लोकमें जिन भगवानने जो दर्शन-रूप सड़क तैयार की है, उस पर चलना बहुत सरल है। उस पर चलनेसे अपने मन चाहे स्थान पर बिना किसी कठिनताके पहुँच सकोगे। इस कारण गुरुमहाराजके वचनानुसार जिन देवको प्रणाम है। इसके बाद जब द्रव्य और भाव-सहित भगवानको प्रणाम करनेके लिए भव्य तैयार होता है तब गुरुमहाराज उसे समझाते हैं—

सबसे पहले तुम यह समझो कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य-आनन्द आदि जितने गुण हैं वही आत्मा है; क्योंकि गुणोंसे भिन्न कोई जुदा आत्मा नहीं है—गुणोंका समुदाय ही आत्मा है। आत्मा धर्मी है और गुण धर्म हैं; इस कारण विश्वास करो कि ज्ञान ही आत्मा है, दर्शन ही आत्मा है, चारित्र ही आत्मा है और वीर्य ही आत्मा है। मतलब यह कि धर्मीसे धर्म भिन्न नहीं होता। जिस भाँति आगका उष्णत्व धर्म अग्निसे भिन्न नहीं है; किन्तु अग्निरूप ही है।

आत्मज्ञानके पहले संपादन करनेका यह मतलब है, कि जिस भाँति लौकिक व्यवहारमें पहले धन कमाया जाता है और उसके बाद उसकी रक्षाके लिए तिजोरी आदि खरीदना पड़ती है, उसी भाँति परमार्थके काममें भी पहले आत्मज्ञान रूपी अनन्त धन सम्पादन करनेकी आवश्यकता है और इसके बाद उसकी रक्षाके लिए मनुष्य-शरीर-रूपी तिजोरीको वैद्यक-ज्ञान द्वारा सुदृढ़ बनाना उचित है। इस मनुष्य-शरीर-रूपी तिजोरीमें आत्मज्ञान-रूपी धन कमा कर रक्खा जाता है। व्याकरण-ज्ञान उस तिजोरीकी कलके समान है और नयज्ञान कुंजीके समान। इन दोनों ज्ञानोंकी भी आवश्यकता-

नुसार प्राप्त करना चाहिए। धर्मक्रिया-रूपी आचार-व्यवहारमें पहले आत्मज्ञान रूपी सुवर्ण प्राप्त करना चाहिए। इसके बाद प्रमाद-रूपी कीट खाये हुए आत्माको प्रतिक्रमणादिके द्वारा अपने सच्चे स्वभावमें लाकर धो-डालनेसे वह शुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञान प्राप्त करके आत्माको तप द्वारा तपानेसे वह सुवर्णकी भाँति शुद्ध हो जाता है। जिन भगवानकी पूजा-भक्ति द्वारा पुण्य सम्पादन किया जाय और सामायिकादि द्वारा कर्मोंकी निर्जरा की जाय तो आत्मा शुद्ध सुवर्णकी भाँति निर्मल हो सकता है। कारण जो आत्मा वचनों द्वारा बोलता है और जिस आत्माके साथ बात-चीत करनी हो उसीका ज्ञान या अनुभव न हो तो व्याकरण-ज्ञान होने पर भी जो कुछ बोला जाता है वह एक पागल मनुष्यके जैसा है। जिसे सुखी बनानेके लिए शरीरादिककी सार-सँभाल की जाती है उसी आत्माका यदि भान न हो तो सुखी किसे बनाया जाय? इसी भाँति नयज्ञानकी बाबत समझना चाहिए। आत्म-ज्ञानके बिना व्याकरणज्ञान झूठा ठहरेगा, वैद्यक-ज्ञान और नयज्ञान बुरे विचारोंके कारण समझे जायँगे। इस कारण यदि तुम पहले आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकोगे तो व्याकरण तुम्हें सत्य-शुद्ध-शब्द, नयज्ञान सत्य अपेक्षा और वैद्यक-ज्ञान निरोगता प्रदान करेगा।

* * * *

आत्मज्ञान किससे होता है?

अत्तावगमो नज्जइ सयमेव गु...
सूरुदऊ लक्खिज्जइ पहाइ न उ...

आत्मावगमो ज्ञायते ... कि...
सूर्योदयो लक्ष्यते प्रा...

अर्थात् जिस भाँति सूर्योदय उसकी प्रभासे ही दिखाई पड़ता है— शपथ खानेसे नहीं, उसी भाँति आत्मज्ञान—आत्मानुभव—भी अपने गुणों से ही होता है—शपथ खानेसे नहीं होता। इस कारण अधिक बोलने की आवश्यकता नहीं।

इस गाथामें आचार्यने यह बात बतलाई है कि, आत्मानुभव कितना सरल या सहज है। जिस भाँति दिन निकल चुकने पर आस-पास सूर्यके उदयको देखना सुगम है और सूर्योदयको देख कर आकाशमें सूर्यका देखना और भी सुलभ है; उसी भाँति अपने आत्मामें प्रगट होनेवाले ज्ञानादि गुणोंको देख कर और इसके बाद उनके विस्तारको देख कर फिर जो अपने हृदयाकाशमें देखता है, उसे शीघ्र ही आत्म-साक्षात्कार या उसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यही शुद्ध सम्यक्त्व है। परन्तु जो मनुष्य पदार्थों और शुभाशुभ व्यवहारोंमें ही फँसे हुए हैं—उनमें रच-पच गये हैं—उनके लिए दिन निकल चुका हो तब भी उसका कुछ उपयोग नहीं होता और दिन पर दिन बीतते जाते हैं। उसी भाँति कुछ ऐसे बहिरात्मबुद्धि—शरीर, स्त्री-पुत्र, धन-दौलतको ही आत्मा समझनेवाले—हैं कि वे अपने भीतर प्रकाशित ज्ञानादि गुणोंकी प्रभाको भी, उस ओर उपयोग न देनेके कारण नहीं जान पाते; और उनका एकके बाद एक जन्म बीतता ही जाता है। इस कारण जिस भाँति हम थोड़ी देरके लिए पदार्थों और उनके अनेक प्रकारके व्यवहारोंकी ओरसे दृष्टि हटा कर दिनकी प्रभाको देखते हैं, फिर सूर्यकी प्रभाको देखते हैं और उसे देख कर बाद सूर्यको देखते हैं उसी भाँति अन्तर्दृष्टि द्वारा देखने पर जान पड़ेगा कि जिन ज्ञानादि गुणोंकी प्रभासे जो जीव और उनके व्यवहार जाने जाते हैं उन्हीं गुणोंमें उपयोग लगानेसे—जरा विशेष स्थिर रहने पर—अर्थात् ज्ञानादि गुणोंका प्रकाश देख कर—अन्तरात्मा बन कर—जहाँसे ये गुण उत्पन्न होते हैं, उसमें उपयोग लगानेसे [illegible] दर्शन हो सकेंगे और फिर यह

अपने आप अनुभवमें आ जायगी कि वही दर्शन आत्मावबोध—आत्मानुभव या आत्म-साक्षात्कार है।

ऊपर कहा गया कि जो लोग पदार्थों, जीवों और उनके व्यवहाररूप इस दृश्य जगतमें फँस रहे हैं वे दिनके प्रकाशकी ओर अपना ध्यान नहीं लगा सकते, तब वे ही लोग सूर्यके प्रकाशको कैसे देख सकेंगे; और जिन्हें सूर्यके प्रकाशका भान नहीं होता फिर उनसे सूर्यके देखनेकी कैसे आशा की जा सकती है? इस दृष्टान्तको स्वयं अपने पर घटानेसे ज्ञात पड़ेगा कि इस समय संसारमें आत्मज्ञानी जन कितने हैं, और चाहिए कितने। इस बातके जाननेके लिए यह विचार करना चाहिए कि दृश्य पदार्थों परसे अपनी दृष्टिको हटा कर दिनके प्रकाशकी ओर लक्ष्य देनेवाले कितने लोग हैं। कल्पना करो कि एक लाख मनुष्योंमें ऐसा एक मनुष्य निकल सकता है, तो इस हिसाबसे आज जो सारी दुनियाकी जन-संख्या पौने दो अरबकी है उसमें १७॥ हजार ऐसे लोग हैं, जो दिनके प्रकाशकी ओर देखनेवाले हैं। और प्रकाशको देख कर सूर्यकी ओर देखनेवालोंमें प्रति दस लाख एक कल्पना किया जाय तो सारी दुनियामें १७॥ सौ मनुष्य सूर्यकी ओर देखनेवाले निकल सकेंगे। इसी भाँति संसारमें रचे-पचे हुए मनुष्य दिनरात अपने ही ज्ञानके प्रकाशमें सब कुछ काम काज करते हैं, सब कुछ देखते जानते हैं; परन्तु उनमें ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं जिन्हें अपने ज्ञानकी खबर हो—अपने ज्ञानका भान हो। यह बड़ी भारी भूल है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य आदि अपने स्वाभाविक गुणोंसे युक्त होने पर भी इन गुणोंके मूल आधार आत्म-सूर्यको देखनेवाले और आत्मनिष्ठ—योगनिष्ठ—जन बहुत थोड़े हैं। जगत्को देखनेवालोंकी अपेक्षा जिस प्रकाशके द्वारा जगत देखा जाता है उस सूर्यके प्रकाशको देखनेवाले अधिक होने चाहिए, और इससे भी अधिक सूर्यको देखनेवाले। ऐसा

करनेसे ही सूर्य देखा जा सकता है। इसके बाद उसकी प्रभा देखी जाती है और फिर प्रभाका उपयोग होता है। इसी प्रकार पहले आत्म-सूर्यके दर्शन, फिर ज्ञानादि गुणोंका देखना और इसके बाद उनमें उपयोग-पूर्वक व्यवहार होना चाहिए। और इस प्रकार किया जाय तभी मनुष्य-जन्म सफल होता है।

परन्तु जिस भाँति दिनकी प्रभाकी ओर देखने पर भी जो आकाशकी ओर दृष्टि नहीं करता उसे सूर्य नहीं दिखाई पड़ता उसी भाँति ज्ञानादिकके जान लेने पर भी हृदयाकाशकी ओर नहीं देखनेवाला—परमात्मदर्शनके सन्मुख न होनेवाला—अन्तरात्मा परमात्म-सूर्यके दर्शन नहीं कर सकता—लोकालोकको प्रकाशित करनेवाले सूर्यकी कान्तिको प्राप्त नहीं कर सकता।

इस कारण संसारकी ओरसे दृष्टि हटा कर देखोगे तो तुम्हें जान पड़ेगा कि जिस ज्ञानके द्वारा यह जाना जा सकता है, कि यह संसार है, यह शरीर है और ये मनुष्य आदि प्राणी हैं, वह ज्ञान आत्म-सूर्यकी प्रभा है। और उस आत्म-सूर्यके दर्शन करनेके लिए अन्तर्दृष्टि-द्वारा यदि हृदयाकाशमें देखोगे तो तुम्हें यह लोकालोक-प्रकाशक-सूर्य स्पष्ट दिखाई पड़ने लगेगा।

परन्तु हाँ, जो अंधा है वह सूर्यकी प्रभा अर्थात् दिनको भी नहीं देख सकता, तब सूर्यको तो वह देख ही कैसे सकता है? उसी प्रकार जो अन्तर्दृष्टि खोल कर आत्म-ज्ञानादिककी किरण-प्रभाको ही नहीं देख सकता वह फिर आत्म-सूर्यको कैसे देख सकता है। इस लिए विचारना चाहिए कि मैं कौन हूँ? यह जो शरीर दीख रहा है वह तो मैं नहीं हूँ और न इस शरीरका उपकार करनेवाले स्त्री-पुत्र, घर-बार या संसार-रूप ही मैं हूँ; किन्तु हूँ मैं इन सबका देखने-जाननेवाला। इस प्रकार विवेक-पूर्वक अन्तर्दृष्टि खोल कर और संसारसे विरक्त होकर

लोकालोक-प्रकाशक सूर्यके सन्मुख होते ही आत्म-दर्शन होंगे—चमकती हुई उज्ज्वल ज्योतिमें आत्म-स्वरूप दिखाई पड़ने लगेगा। योगी लोग जिस आत्माको अगोचर बतलाते हैं वह फिर प्रत्यक्ष हो जायगा।

और आँखें खुली भी हों; परन्तु जब तक सूर्य सफ़ेद और काले बादलोंसे ढका हुआ रहता है तब तक उसके दर्शन नहीं हो सकते। उसी प्रकार अन्तरात्म-स्वभाव-रूप अन्तर्दृष्टिके खुली रहने पर भी—अभेदज्ञान हो जाने पर भी—लोकालोक-प्रकाशक परमात्म-सूर्यके तब तक ठीक दर्शन नहीं हो सकते जब तक कि वह शुभाशुभ कर्मरूप बादलोंसे ढका हुआ है। परन्तु विचार करनेसे जान पड़ेगा कि, जिन बादलोंको हम देख रहे हैं वह भी सूर्यके प्रकाशकी सहायतासे ही देख रहे हैं। इसी प्रकार हृदयाकाशमें देखनेसे अपने शुभाशुभ कर्म भी आत्म-सूर्यके प्रकाश द्वारा देखे जा सकते हैं-सबको अपने शुभाशुभ कर्मोंका ज्ञान हो सकता है। आत्म-प्रकाशका कार्य ही यह है कि वह सबके लिए ज्ञान-रूप होकर अपनेसे भिन्न शुभाशुभ कर्मोंको दिखाता रहे।

ऐसी दशामें यह विचार आकर पैदा होता है कि तब ये शुभाशुभ कर्म किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं कि जिससे आत्मा अपने पूर्ण प्रकाशमान स्वरूपमें प्रत्यक्ष देख पड़ने लगे। तो इसके लिए उपाय यह है कि जिस भाँति सूर्य पहले अपनी किरणों द्वारा समुद्रमेंसे जल खींच कर उसकी भाफ बनाता है और फिर उस भाफको बादलोंके रूपमें परिणत करता है और अन्तमें अपनी गरमी द्वारा उन्हें बरसा कर आप निरावरण हो जाता है; उसी भाँति यह आत्मा भी अनादि कालसे जो अशुद्ध ज्ञानादिकी किरणों द्वारापर-वस्तु-रूप संसार-समुद्रमेंसे शुभाशुभ कर्म-पुद्गल-रूप जल खींच कर अपने चारों ओर बादल बना रहा है, उनमें अनादि कालसे अब तक अनन्त जीवोंको दुःख पहुँचा कर जो कर्मरूप काले बादल हमने

आत्माके चारों ओर इकट्ठे कर दिये हैं—उन्हें 'खम्मामि सव्व जीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे' रूप प्रतिक्रमण या पश्चात्तापकी तेज गरमी द्वारा बरसा कर हृदयाकाशसे नष्ट कर देना चाहिए। ऐसा करनेसे आत्मा निरावरण होगा और हमें उसके दर्शन हो सकेंगे। काले बादलोंके नष्ट हो जाने पर जो थोड़े बहुत सफेद बादल रह जाते हैं, वायु-द्वारा सूर्य उन्हें भी तितर बितर कर डालता है उसी भाँति अशुभ कर्मों-के नष्ट हो जाने पर फिर हमें वैराग्य-रूपी वायु द्वारा शुभकर्म-रूपी सफेद बादलोंको आत्माके आस-पाससे हटानेका यत्न करना चाहिए। इतना करने पर हमें लोकालोक-भास्कर आत्म-सूर्यके दर्शन सुस्पष्ट होने लगेंगे और साथ ही इस बातका ज्ञान भी हो जायगा कि वह आत्म-सूर्य और कोई न होकर हम स्वयं हैं।

और फिर जिनके आँखें हों तथा सूर्य भी बादलोंसे ढका हुआ न हो तब तो पूछना ही क्या, ऐसे लोगोंको तो आँखें ऊपरकी ओर उठाने मात्रहीमें सूर्यके दर्शन हो सकेंगे—एक क्षणभरके जितनी भी देर न लगेगी। इसी प्रकार जो लोग आत्माके ज्ञानादि गुणोंको जानते हैं, उन्हें फिर अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपका ज्ञान होनेमें एक क्षणके जितना भी समय नहीं लगेगा—आत्म-सूर्यके दर्शन वे समय मात्रमें ही कर सकेंगे। इसी कारण संसारके सब आत्म-बन्धुओंसे कहा जाता है कि आत्मज्ञान बहुत ही सहज है और समय मात्रमें हो सकता है।

जो अशुभ कर्मोंसे घिरा हुआ है उसे भी काले बादलोंसे ढके हुए सूर्यकी परछाँईके दिखाई पड़नेकी भाँति आत्म-सूर्यकी परछाँई दिखाई पड़ती है, और जो शुभ कर्मोंसे घिरा हुआ है उसे आत्म-ज्योतिके दर्शन कुछ विशेष स्पष्ट-रूपसे होते हैं; परन्तु जिसने शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकारके कर्मोंको नष्ट कर दिया है, उसे तो फिर आत्मा और उसकी ज्योतिका पूर्ण साक्षात्कार होने लगता है। इस कारण बन्धुओ,

आप लोगोंको पहले आत्म-सूर्यके दर्शन प्राप्त करके फिर अन्य विद्याओंके लिए यत्न करना चाहिए, जिससे कि तुम सूर्यकी भाँति पूर्ण तेजस्वी बन सको।

आगे यह बात बतलाई जाती है कि आत्माके अनन्त गुणोंमेंसे किन किन गुणोंकी प्रभा—ज्योति पड़ सकती है।

* * * * * *

आत्म-बोधरूपी बीजके अंकुर—

दम-सम-समत्त-मित्ती-संवेअ-विवेक-तिव्व-निव्वेआ।
एदे पगूढअप्पाववोहबीअस्स अंकुरा ॥ २ ॥

दश-शम-सम्यक्त्व-मैत्री-संवेग-विवेक-तीव्रनिर्वेदाः।
एते प्रगूढात्मावबोधबीजस्याङ्कुराः ॥

अर्थात् इंद्रिय-दमन, समता, सम्यक्त्व, मैत्रीभाव, संवेग, विवेक और उत्कट वैराग्य ये सब गूढ़ आत्म-ज्ञानरूपी बीजके अंकुर हैं।

विवेचन—यह बात किस भाँति जानी जा सकती है कि हमें आत्म-ज्ञान या आत्मानुभव हुआ या नहीं, इसी बातकी परीक्षाकी कसौटीके रूपमें आचार्यने यह गाथा लिखी है। कारण आत्मबोध 'स्वसंवेदन-रूप'—अपने आप अनुभव करने योग्य—है। वह सुवर्णकी भाँति कसौटी द्वारा परीक्षा करके दूसरोंको नहीं दिखलाया जा सकता है, उसकी परीक्षा अपने आत्मा द्वारा ही हो सकती है। आत्मा ही उसका अनुभव कर सकता है। जैसा कि पहली गाथामें बतलाया गया है कि जिस प्रकार दिन निकला हुआ देख कर ऊपरकी ओर देखनेसे सूर्योदयका ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार इस गाथामें कहे हुए इन्द्रिय-दमन आदि अंकुरोंको देख कर बीजका ज्ञान हो सकता है। इन अंकुरोंको देखनेसे यह भी जाना

जा सकेगा कि, अपने आत्मामें आत्मज्ञानके बीज बोये जा चुके हैं या नहीं। अब इन इन्द्रिय-दमन आदिका विशेष खुलासा लिखा जाता है।

इन्द्रिय-दमन।

जो इन्द्रियाँ पहले आत्माका दमन कर रही थीं—जिन इंद्रियोंके वश आत्मा हो रहा था—उन्हीं इन्द्रियोंको अब वह स्वयं दमन करने लगता है—उनके अधीन न होकर उल्टा उन्हें अपने अधीन कर लेता है।

स्पर्शनेन्द्रिय-दमन।

जो अनन्त शक्ति-शाली आत्मा स्पर्शन-इन्द्रियके वश होकर पशुके सदृश उसका गुलाम बन गया था, जो आत्म-रूपी राजा इन्द्रिय-रूपी नौकरका दास बन कर हैरान हो रहा था, जो आत्म-रूपी सेठ इंद्रिय-रूपी सेवकके वश होकर कष्ट भोग रहा था, और जिसे अपना आज्ञाकारी नौकर बना कर स्पर्शन-इन्द्रिय दमन कर रही थी, वही आत्मा अब अपना असली स्वरूपका कुछ ज्ञान लाभ कर उस नौकरको अपने वश करनेका प्रयत्न कर रहा है। इतना ही नहीं, किन्तु उल्टा उसे चलनेके लिए सहारा देता है और साथ ही उसका दमन भी करता जाता है।

जो आत्मा पहले हाथीकी भाँति काम-सेवन-रूप गढ़ेमें बार बार गिर कर अपने प्राणोंको खो रहा था, वह अब स्पर्शन-इन्द्रियके वश हुआ पशु नहीं है; परन्तु स्वयं उसे वश करनेवाला एक बलशाली आत्मा है, यह जान कर जो पहले अपनी वृत्तिको अपनी निजकी स्त्रीकी ओर खींच लाकर उसे पर-स्त्रियोंकी ओर जानेसे रोक लेता है वह आत्मा स्पर्शन-इन्द्रिय-रूपी हाथीको अपने वश कर लेता है। समझना चाहिए कि, इस आत्माने आत्म-ज्ञानका बीज अपनेमें बो दिया।

रसनेन्द्रिय-दमन।

जिस भाँति मछली मांसके लोभमें पड़ कर उसे खानेको जाती है

और उसमें लगे हुए काँटेको न देख कर अपने प्राणोंको गँवा बैठती है, उसी भाँति यह आत्मा-रूपी राजा रसना-इन्द्रिय-रूपी नौकरके वश हुआ मीठी वस्तुके लोभमें पड़ कर उसके साथ मिले हुए विषको न देख-कर अपने प्राणोंको गँवा बैठता है। इस कारण रसनेन्द्रियके विषय पर विजय-लाभ कर जो आत्मा इसे अपने वश कर लेता है, कहना चाहिए कि उस आत्माने अपने भीतर आत्मप्रबोधके बीज बो दिये।

घ्राण-चक्षु-श्रोत्रेन्द्रिय-दमन।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, भौंरेको अपनी सुगन्ध द्वारा फँसानेवाले कमलकी भाँति सुगन्धका लोभ दिखा कर आत्माको फँसाती है; चक्षुरिन्द्रिय, पतंगोंको प्रकाश दिखला कर फँसानेवाले प्रदीपकी भाँति रूप-सौन्दर्य आदि दिखा कर फँसाती है; और श्रोत्रेन्द्रिय, गीतोंको सुन कर फँसानेवाले हरिणकी भाँति सुन्दर सुन्दर गीतोंको सुना कर फँसाती है। परन्तु जो इन इन्द्रियोंके वश न होकर इन्हें अपने वश करता है और इतने पर भी ये अपनेसे उल्टा चलनेका साहस करें तो इन्हें दण्डित करता है, कहना चाहिए कि उस आत्मामें आत्म ज्ञानके बीज उग उठे हैं।

जिस भाँति पकड़ कर लाये हुए नये घोड़ोंका जंगलीपन दूर करनेके उन्हें लिए कुछ दिनों तक भूखों रखना पड़ते हैं और बहुत थोड़ा खाने-पीने-को दिया जाता है; उसी भाँति आत्माको उचित है कि वह इन इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंको विषय-रूपी मनमाना खुराक खिला कर उच्छृंखल न होने दे और न बिल्कुल ही कुछ न खिला कर मार ही डाले; परन्तु उन्हें थोड़ा खानेको दे और थोड़े भूखे भी रक्खे। इस प्रकार उनका कुछ जंगलीपन दूर हो जाने पर फिर जिस भाँति वे सिखाये जाते हैं उसी भाँति ये इन्द्रिय-रूपी घोड़े जिस तरह शुभमार्गमें चलने लगे, जिस तरह शुभ चाल चलने लगें उसी प्रकार उन्हें सिखाना चाहिए। इस प्रकार आत्मा प्रयत्न करने लगे तो समझना चाहिए कि उसमें आत्मबोधके बीज बोये गये हैं।

इस प्रकार सिखाये हुए इन्द्रिय-रूपी घोड़े जब कि इस शरीर-रूपी गाड़ीको न तोड़ कर और मन-रूपी सईसके वश रह कर गाड़ीमें बैठे हुए आत्माकी शुद्ध -दशाकी ओर आगे आगे बढ़ते जायँ तब निश्चयसे समझना चाहिए कि आत्मज्ञानके बीज बोये जा चुके हैं।

इस प्रकार जो इन्द्रियाँ पहले आत्माका दमन कर रहीं थी—उस पर अपनी सत्ता जमाये हुई थीं—वे इस प्रकार शिक्षित होकर—आत्म-वश होकर—उसकी इच्छाके अनुसार प्रवर्तने लगे तो समझना चाहिए कि आत्मानुभव होनेके लिए प्रभात हो चुका और अब थोड़ी ही देर बाद उषाकी लालिमा दिखाई देकर पूर्ण सूर्योदय होगा—आत्म-सूर्यका प्रकाश लोकालोकको प्रकाशित करेगा और स्वयं आत्मा भी अपने स्वरूपका अनुभव करने लगेगा। थोड़ेमें यों कहना चाहिए कि सब इन्द्रियाँ अब आत्मभिमुख हो रहेंगी।

शम।

मनोविकारोंका शमन—जो आत्मा क्रोधको क्षमासे, मानको नम्रतासे, मायाको सरलतासे और पर-वस्तुके लोभको सन्तोषसे शमन करनेका यत्न करता है तो समझना चाहिए कि उसमें आत्मज्ञानके बीज बोये जा चुके हैं। कारण इन क्रोध-मान-माया-लोभके द्वारा ही मन-रूपी समुद्रमें पर्वतके समान बड़ी बड़ी लहरें उठा करती हैं; परन्तु यदि इन लहरोंको क्षमादि रूपी तैलसे शान्त कर दिया जाय तो सहजहीमें आत्म-स्वरूपकी परछाँई दिखाई पड़ने लगे। और जिस समय क्रोध आत्मासे निकाल बाहर किया जाता हो, गर्व खर्व किया जाता हो, मायासे अंचल छुड़ाया जाता हो और लोभ लातोंसे ठुकराया जाता हो, तो उस समय निश्चित जान लेना चाहिए कि आत्मावबोधके बीज बोये जा चुके हैं।

जिस प्रकार इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंका जंगलीपन दूर करनेके लिए उन्हें शिक्षित करनेकी आवश्यकता है उसीके साथ ही मन-रूपी सारथीके

लिए शरीर-रूपी रथमें घोड़ोंका जोतना आना भी बहुत आवश्यक है। इसके बाद जो मन एक बार इन्द्रियोंके वश हो रहा था जब वह शुद्ध आत्माकी इच्छाके अनुसार–जैसा वह चाहे–उसके शुद्ध गुणोंके वश हो रहे तब समझना चाहिए आत्मामें आत्मज्ञानके बीज बोये जाने लगे हैं।

जो मन आत्म-वश हो और इन्द्रियाँ उस आत्म-वश मनके अधीन हो तो बहुत ही अच्छा है। ऐसा होनेसे उनका परस्परका व्यवहार भी निश्चय-पूर्वक बन रह सकता है। जिस आत्माकी ऐसी स्थिति होने लगे निसंदेह समझना चाहिए कि उसमें आत्माववोधके बीज बोये जा रहे हैं।

समता।

संसारमें दो वस्तुयें हैं; एक स्व और दूसरी पर—आत्मा और जड़। इन पर कुछ थोड़ा बहुत समभाव होने लगे–राग-द्वेष न हो, तो समझना चाहिए कि आत्मामें आत्मावबोधके बीज बोये जा चुके हैं।

आत्माके लिए यह उचित ही नहीं जान पड़ता कि वह अपनेसे जुदी जड़ वस्तु पर राग या द्वेष करे। कारण जड़ वस्तु स्वयं इस बातका ज्ञान नहीं रखती कि उस पर किये हुए राग-द्वेषका वह अनुभव कर सके। एक काठकी पुतलीको प्रेमसे चाहे नचाइए या द्वेषसे लकड़ी मारिए; परन्तु उससे उसका कुछ हानि-लाभ नहीं हो सकता। जो आत्मा पहले क्षणमें एक पर प्रेम करता है और दूसरे ही क्षणमें उस पर द्वेष करता है—राग-वश हो प्यार करता है और द्वेष-वश हो प्रहार करता है—उसकी यह स्थिति हास्य-जनक नहीं तो और क्या है? इस कारण मैं तो यही चाहता हूँ कि मैं सदा सम-भावहीमें मस्त बना रहूँ। आत्मा सबहीका समान है, इस कारण सबके साथ समता-भावका रहना ही उत्तम है। ये समभाव ममत्व-भावके नाश होनेसे होते हैं और ममत्व-भाव सामान्यसे पर-वस्तुओंमें हुआ करते हैं।

परन्तु उन ममत्व-भावोंको यदि पर-वस्तुओंकी ओरसे हटा कर स्व-वस्तुकी ओर–अपने ज्ञानादि गुणोंकी ओर–लगा दिये जायँ तो इस प्रकारके ममत्व-भावोंका होना भी कोई सर्वथा बुरा नहीं है। ऐसा करनेसे भी समता प्राप्त होती है। आत्म-स्वरूप सबमें समता-रूप है।

मैत्री-भाव।

इस प्रकार सब प्राणियों पर और सब पदार्थों पर समता या समभाव होनेके बाद जो सब जीवोंके साथ मैत्रीभाव होने लगे, तो समझना चाहिए कि अपनेमें आत्मज्ञानके बीज बोये गये हैं। 'परहितचिन्ता मैत्री' अर्थात् दूसरोंके हितकी चिन्ता करनेको मैत्री कहते हैं। यदि अपने आत्मामें इस प्रकारकी भावनायें उत्पन्न होने लगे तो जानना चाहिए कि आत्मज्ञानके बीज उसमें बोये जाने लगे हैं।

संवेग।

संवेगका अर्थ है मोक्षकी अभिलाषा। जो यह संसार कारागृहके जैसा जान पड़ने लगे, उसमेंसे निकलनेके लिए आत्मा प्रयत्न करने लगे, संसा–रकी सब अवस्थायें दुःख-पूर्ण जान पड़ें; कारण जिसे मौतकी खबर रहती है उसे फिर संसारके किसी काममें उत्साह नहीं रहता, इसलिए जो स्थान ऐसा हो कि जहाँ रह कर यह आत्मा अमर हो सके उस स्थानके प्राप्तिकी तैयारी करने लगे तो जानना चाहिए कि अपने आ-त्मामें आत्मज्ञानके बीज बोये जा चुके हैं।

विवेक।

विवेक भेदज्ञानको कहते हैं। अर्थात् जिस समय यह ज्ञान होने लगे कि 'यह जड़ है' और 'यह चैतन है' उस समय समझना चाहिए कि आत्मामें आत्मज्ञानके बीज बोये जाने लगे हैं।

तीव्र निर्वेद।

निर्वेदका अर्थ है उदासीनता और तीव्र निर्वेदका अर्थ है अत्यन्त उदासीनता। संसारमें रहते हुए एक बार जहाँ यह संसार कैदखाने या अथाह समुद्रके जैसा जान पड़ा कि फिर उसमें मनुष्यको प्रतीति-विश्वास कैसे रह सकता है अर्थात् नहीं रह सकता। इस प्रकार जब संसार-रूपी कैदखाने या समुद्रमें रहते हुए आत्मा घबरा उठता है—वह उसे अत्यन्त विपत्ति-भरा जान पड़ने लगता है—तब उसके प्रति उसकी उदासीनता बहुत ही बढ़ जाती है। ऐसी ही हालत जब हमारे आत्माकी होने लगे तब समझना चाहिए आत्मावबोधके बीज उसमें बोये जा चुके हैं।

प्रिय बन्धुओं और बहनो, ऊपर कहे गये इंद्रिय-दमन आदि अंकुर जब तुम्हें अपनेमें उगते हुए जान पड़ने लगे तब समझो कि तुम्हारे आत्मामें आत्म-ज्ञानके—निश्चय-सम्यक्त्वके—बीज बोये जा चुके हैं। और यदि समझो कि ये गुण तुममें नहीं हैं तो इनके लिए भर्तृहरि या दृढ़प्रहारीकी भाँति तुम भी यत्न करो, उससे तुम्हें आत्मज्ञानका लाभ हो सकेगा।

* * * * * *

आत्माको जाननेवालेकी स्थिति—

जो जाणइ अप्पाणं अप्पाणं सो सुहाण न हु कामी।
पत्तम्मि कप्परुखे रुखे किं पत्थणा अण्णे ॥ ४ ॥

यो जानात्यात्मानमल्पानां सुखानां स न हि कामी।
प्राप्ते कल्पवृक्षे वृक्षे किं प्रार्थनान्यस्मिन् ॥

अर्थात् जिसने आत्माको जान लिया वह फिर संसारके तुच्छ सुखोंकी इच्छा नहीं करता। कल्पवृक्षके हाथ लग जाने पर दूसरे वृक्षसे प्रार्थना करनेसे लाभ ?

विवेचन—जिसने जान लिया कि आत्मा अनादि अनन्त है—उसका न कभी नाश हुआ और न होगा—वह मनुष्य फिर आदि और अन्त-सहित—नाश होनेवाले—शरीर, इन्द्रिय और विषय-सुखकी कैसे अभिलाषा कर सकता है? कारण कि मनोवांछित वस्तुका देनेवाला कल्पवृक्ष जिसे प्राप्त हो गया वह फिर दूसरे वृक्षके सामने क्यों हाथ पसारेगा—क्यों भीख माँगेगा? इसी प्रकार सब सुखोंका खान आत्मा जिसे प्राप्त हो गया उसे फिर संसारके विषय-सुख रुचि कर नहीं हो सकते। कारण सुख विषयोंमें न होकर आत्मामें है। आत्मा स्वयं ही सुखमय है। जिस भाँति कस्तूरी कस्तूरीमृगके भीतर ही होती है, उसी भाँति सुख भी आत्माके भीतर ही है—बाहर कहीं नहीं है।

* * * * * *

-आत्मज्ञानसे लाभ?

निअविण्णाणे निरया निरयाइ-दुहं लहंति न कदावि।
जो होइ मग्गलग्गो कहं सो निवडेइ कुवंमि॥ ५॥

निजविज्ञाने निरता नरकादिदुःखं लभन्ते न कदापि।
यो भवति मार्गलग्नः कथं स निपतति कूपे।

अर्थात् जो आत्मज्ञानमें सदा निरत रहते हैं—निरंतर आत्मानुभवमें निमग्न रहते हैं—वे नरक, तिर्यंच आदि गतिके दुःखोंको कभी प्राप्त नहीं होते। सीधे रास्ते पर चलनेवाले कुएँमें नहीं गिरते।

विवेचन—सीधी सड़क हो, प्रकाश हो और आँखें भी खुली हों तो मनुष्य कुएँमें नहीं गिर सकता। जिसने संसारके दुःखोंका खूब अनुभव कर लिया है, वह दुःख-रहित स्थानमें जानेकी क्यों न इच्छा करेगा? बहिरात्म-स्वरूप-कुएँमेंसे निकल चुकने पर संसार-रूपी कुएँमें—गिरनेका फिर कोई डर नहीं रहता।

कितने जड़ात्म-भाववादी कहते हैं कि संसारमें केवल दुःख ही दुःख है, कितने बहिरात्मा-पर वस्तु शरीर-स्त्री-पुत्र आदिको ही आत्मा समझने-वाले-कहते हैं संसारमें सुख है, पर वह मधुबिन्दुके जितना है। इसके सिवा दुःख ही दुःख है; परन्तु अन्तरात्म-भाववादी-आत्मज्ञानी कहते-हैं कि आत्म-संसार केवल सुखमय है और संभवतः उसमें दुःख हो भी तो वह मधुबिन्दुके जितना है-बहुत थोड़ा है-आटेमें नमकके जितना है। यह बात हमें उस समय कुछ कुछ भासने लगती है जब हम आत्मज्ञानकी ओर झुकते हैं। परन्तु वास्तवमें देखते हुए उसमें कुछ दुःख नहीं है।

कारण यह संसार उन्हें तीन स्वरूपोंमें दिखाई पड़ता है। एक 'असार' दूसरा 'सार' और तीसरा 'ससार'। असार यह तब दिखाई देता है जब कि उसमें क्रोधकी आग जलने लगती हो, अभि-मानके कारण दूसरोंका तिरस्कार-अपमान-किया जाता हो, मायाके कारण लोगोंको कपट-जालमें फँसाया जाता हो, लोभके कारण तृष्णा कभी पूरी ही न होती हो, वैर-विरोध बढ़ता रहता हो, कामरूपी दल-दलमें आत्मा फँस रहा हो, और मोहरूपी अंधकारमें भटकता फिरता हो। और इसके विपरीत जहाँ क्रोध आया कि वह क्षमा-जलसे शान्त कर दिया जाता हो, घमंड हुआ कि नम्रता द्वारा आत्मा कोमल बन जाता हो, माया उत्पन्न हुई कि सरल भावोंसे वह शुद्ध कर दी जाती हो, लोभ होते ही संतोष-सुखसे वह दबा दिया जाता हो, और वैर-विरोधकी जगह जहाँ मैत्री-भाव और एकताकी वृद्धि होती हो उस हालतमें यही संसार 'सार' जान पड़ता है।

और जब क्रोध-मान-माया आदि उत्पन्न ही न होने लगें और इनके उत्पन्न होनेके कारण तक क्षमाके रूपमें परिणत होकर उपकारी बन जायँ तब जानना चाहिए कि संसार 'ससार' रूप है।

जिस भाँति कंकर-मिट्टी 'असार' है, गेहूँ 'सार' है और उनका

आटा 'ससार' है उसी भाँति कंकर-मिट्टीके जैसे क्रोधादिकी अशुद्ध क्रियाको दूर करके जब आत्मा क्षमाके जैसा कोमल, नम्रताके जैसा नरम, सरसताके जैसा सीधा-साधा और सन्तोषके जैसा स्वादिष्ट हो जाय तब यही संसार सार रूप हो जाता है। अर्थात् वह 'सुख-सागर सब ठौर भर्‍यो है' के सदृश हो जाता है।

जिस प्रकार तलावमें अनन्त जलके रहते हुए भी मछलियोंको मुँह खोलने पर ही पानी मिलता है, उसी भाँति इस आत्मज्ञान-रूप सरोवरमें अनन्त आनन्दरूप शीतल-मधुर जल भरा हुआ है; परन्तु वह अन्तर्दृष्टिके उघाड़ने पर ही मिल सकता है और तभी दुःख-शोक-चिन्ता आदि-रूपी प्यास बुझ सकती है। इस कारण जो लोग आत्मरूपी, सीधे मार्ग पर आत्म-सुख-रूपी सूर्यके प्रकाशमें, 'सोहं' की भावना-रूप आत्मविज्ञान-रूपी आँखें उघाड़े हुए चलते हैं उनके दुःखोंको ही नहीं; किन्तु संसारको ही देश निकाला मिल जाता है—उनके लिए दुःखमय स्थान ही सुखमय हो जाते हैं और अन्तमें वे मुक्ति लाभ कर लेते हैं। इस प्रकार जब आत्म-विज्ञान-रूपी आँखें उघड़ जाती हैं तब यह आत्मा बहिरात्मभाव-रूपी कुएँमेंसे निकल कर अन्तरात्मरूपी भूमि पर—आनन्द-भावरूपी सीधे रास्ते पर—आ जाता है और फिर परमात्म-भावरूपी—आनन्द-घनभावरूपी—उन्नत शिखर पर चढ़ने लगता है।

जो आत्मा क्रोधरूपी धधकती आगमें जड़भाव या बहिरात्म-भावोंसे जल रहा था वह आत्मज्ञानके द्वारा इस निश्चयके साथ, कि लोकालोकका प्रकाशक आत्मा मैं ही हूँ, क्षमारूपी शीतल जलके भरे सरोवरमें स्नान करता है फिर ऐसी कोई शक्ति नहीं रहती जो उसे संसारके नरकाग्नि-कुंडमें जला सके; किन्तु वह फिर मोक्षपुरीके क्षमारूपी शान्त सरोवरमें ठहरें लेने लगता है। जो आत्मा मायारूपी दल-दलमेंसे निकल कर सरलता-रूपी सीधी सड़क पर चलता है संसार फिर उसके लिए

असार नहीं रहता; किन्तु उल्टा संसार—श्रेष्ठ साररूप हो जाता है। वह तिर्यंच-पशु नहीं; किन्तु तीर्थंकरके सदृश है। जो मानरूपी पर्वत पर न चढ़ कर मलमल जैसी कोमल नम्रतारूपी भव्य पृथ्वी पर चलता है और लोभरूपी कुएँमें न पड़ कर संतोष-शान्ति-रूपी महलमें रहता है उस *मनुष्यके लिए संसार असार नहीं; किन्तु संसार–श्रेष्ठ साररूप है।* मनुष्य यदि संसारकी ओरसे असार दृष्टिको दूर करके आत्म-विज्ञान द्वारा सं-सार–श्रेष्ठ सारमय दृष्टि करे तो उसके लिए फिर मोक्ष संसारमें ही है।

* * * * * *

आत्मविज्ञानमें रहनेवालेकी स्थिति—

तेसिं दूरे सिद्धी रिद्धीरणरयणकारणं तेसिं।
तेसिमपुन्ना आसा जेसिं अप्पा न विन्नाओ॥ ६॥

तेषां दूरे सिद्धिर्ऋद्धिर्ऋणार्णकारणं तेषाम्।
तेषामपूर्णाशा येषामात्मा न विज्ञातः॥

अर्थात् जिन्होंने आत्माको नहीं जाना उनसे सिद्धि दूर रहती है, लक्ष्मी उनके लिए दुःखका कारण होती है और उनकी सब आशायें अपूर्ण रहती हैं।

विवेचन—जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक पर-वस्तुओंमें बड़ी आशा रहती है और उस आशाके मारे मनुष्य ज्यों ज्यों धन-दौलत कमाता जाता है, त्यों त्यों अधिक अधिक वह संसाररूपी कुएँमें डूबता जाता है और सच्चे मोक्ष-सुखसे दूर होता जाता है। पूर्ण और अनन्त *सुख आत्मामें ही है; कारण वह स्वयं सुखरूप है—आनन्द-घनमय है।* इसके सिवा उसे जितनी भी ऋद्धि–धन-दौलत प्राप्त होती है उसमें मात्र आत्म-सुखकी छाया होती है। जिस भाँति छाया अपूर्ण, क्षणिक और

बहुत थोड़े समय तक रहती है, उसी भाँति पर-वस्तुमें प्रतिविम्बित हुई आत्म-सुखकी छाया अपूर्ण और थोड़े समय तक ठहरनेवाली है।

कल्पना करो कि एक मनुष्य दर्शनीय बड़े सुन्दर महलमें रहता है। उस महलके चारों ओर एक सुन्दर बाग भी है। अपनी इस विभूतिको देख-देख कर वह मनुष्य अपनेको बड़ा सुखी समझता है। परन्तु इतनेहीमें किसीने आकर उससे कहा कि 'अलाहाबादकी प्रदर्शनीके लिए बड़ी बड़ी तैयारियाँ हुई हैं। वह बड़ी ही अद्भुत और दर्शनीय है।' मित्रकी ये बातें सुन कर वह मनुष्य अपने महल और बागके कल्पित सुखको छोड़ कर अधिक सुखकी लालसासे अलाहाबाद पहुँचा। वहाँ प्रदर्शनी देख कर उसने आशातीत आनन्द लाभ किया। वह तो अभी प्रदर्शनीमें ही मजा मौज उड़ा रहा था कि इतनेमें एक तारके सिपाहीने आकर उसके हाथमें तार दिया। उसमें लिखा था कि 'बजारके शेरोंका भाव बहुत उतर गया है।' भावका उतरना सुनते ही उसका दिल एक-दम टूटसा गया और चारों ओरसे वह अपनेको दुःखोंसे घिरा हुआ देखने लगा। गो कि उसकी आँखें प्रदर्शनीकी सुन्दर सुन्दर वस्तुओंको बिजलीकी अद्भुत रोशनीमें देख-देख कर चकचौंधियाँ रही थीं—बड़ा मनोहर दृश्य था; परन्तु शेरोंके भावने तो उसके मनमें खलबली मचा कर सब सुखको किरकिरा कर दिया। इसी कारण कहा जाता है कि बाह्य सुख सच्चा सुख नहीं, केवल भ्रान्ति है। किन्तु सच्चे सुखका स्थान आत्मा है। और जिसे यह एक बार भी प्राप्त हो जाता है उसकी फिर सब आशायें पूर्ण हो जाती हैं और उस हालतमें उसे जो कुछ रिद्धि प्राप्त होती है, उसीमें वह सन्तोष मान कर सुखी होता है।

जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक पर वस्तुकी आशा बनी ही रहती है। इसके सम्बन्धमें भर्तृहरि कहते हैं कि "जिसके पास एक पैसा नहीं वह सौ रुपयोंकी आशा करता है, जिसके पास सौ रुपया है

वह हजारकी आशा करता है, जिसके पास हजार रुपया है वह लाखकी आशा करता है, लखपति राजा होना चाहता है, राजा चक्रवर्ती बनना चाहता है, चक्रवर्ती इन्द्र-पदकी इच्छा करता है, इन्द्र ब्रह्म-पद प्राप्त करना चाहता है, ब्रह्मा शिव होना चाहता है और शिव हरि-पद प्राप्त करनेकी इच्छा रखता है। कहनेका मतलब यह है कि इस प्रकार आशा अधिक अधिक बढ़ती ही जाती है—उसकी सीमाको अब तक कोई प्राप्त नहीं कर सका।" परन्तु जिसने सब सुखोंके धाम आत्माको जान लिया उसकी सब आशायें पूर्ण हो जानेके कारण वह अपनेको अनन्त ऋद्धि सिद्धिका स्वामी ज्ञान करता है।

* * * * *

संसार-मोह-लोभमें क्या सुख है!

ता दुत्तरो भवजलही ता दुज्जेओ महालओ मोहो।
ता अइविसमो लोहो जा जाओ न निओ बोहो॥ ७॥

यतो दुस्तरो भवजलधिस्ततो दुर्जेयो महालयो मोहः।
ततोतिविषमो लोभो यतो जातो न निजबोधः।

अर्थात् यह संसार-समुद्र तब तक ही दुस्तर है, जब तक कि प्रचण्ड मोह पर विजय नहीं किया गया और लोभ भी तभी तक विषम—दुर्जेय है जब तक कि आत्मज्ञान नहीं होता।

विवेचन—यह बात नहीं है कि भव-समुद्र न तैरा जा सके; परन्तु कठिनतासे तैरा जा सकता है। और जब आत्मबोध हो जाता है तब यही भव-समुद्र बड़ी सरलतासे-सुखके साथ-तैरा जा सकता है। आत्मबोधके लिए इन विचारोंकी आवश्यकता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ, पर जाननेवाला आत्मा हूँ-ज्ञान हूँ'।

अच्छा अब जरा विचार करना चाहिए कि आत्मा जिस भव-समुद्रको पार करना चाहता है, वह उसे पार कर सकेगा या नहीं? और शक्ति भव-समुद्रकी बड़ी है या आत्माकी? इस पर विचार करनेसे जान पड़ता है कि आत्माकी शक्ति भव-समुद्रसे बड़ी है और यही कारण है कि वह उसे बड़ी सरलतासे पार कर सकता है। एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'नावमें नदिया डूबी जाय।' इसका मतलब यह है कि नदीका अन्त आ सकता है, पर नावका कभी अन्त नहीं आ सकता। नदी चाहे कितनी ही बड़ी हो तो भी नाव उसे पार करके ही छोड़ती है। जिस प्रकार कपड़ेके एक थानको मापनेसे उसका अन्त आ जाता है, परन्तु गजका अन्त नहीं आता, और वह वैसाका वैसा ही बना रहता है, उसी प्रकार आत्मा अनन्त गतियोंमें भ्रमण करता है, परन्तु उसका अन्त न आकर वह जैसाका तैसा ही बना रहता है। ठीक इसी प्रकार चार गतिरूप संसार-सागरमें आत्माको चाहे कितना ही तैरना पड़े, अन्तमें वह उसे पार कर ही जाता है। आत्माकी शक्ति अनन्त है--उसका पार नहीं आ सकता। आत्मा तैरते तैरते अब ऐसी जगह पर--मनुष्य-भवमें--आ पहुँचा है, कि जहाँसे मोक्षका किनारा बहुत शीघ्र प्राप्त किया जा सकता है। अब यदि उसे अपने वांछित स्थान पर पहुँचना है तो अपने स्वरूपके जाननेका यत्न करना बहुत उचित है। इसके लिए उसे विचारना चाहिए कि मैं इस शरीर-रूप नहीं हूँ, किन्तु इसका जाननेवाला आत्मा हूँ--ज्ञान हूँ।

इसी प्रकार मोह भी अजेय नहीं, किन्तु कठिनतासे जीता जाता है। आत्मबोध होने पर जब जब आत्मा जगता है, तब तब ज्ञान-प्रदीपके प्रकाशमें वह विचार करता है कि ये घर-बार, स्त्री-पुत्र, सगे-सम्बन्धी आदि सब किसके हैं? पुद्गलके हैं, मेरे नहीं। तब मैं कौन हूँ? मैं तो इनका जानने-देखनेवाला हूँ। इस प्रकार जब आत्मा स्वयं तर्क-वितर्क

करने लगता है तब मोहान्धकार नष्ट होने लगता है, इसलिए कि वह सच्चा–आत्म-गुण–नहीं है। और यदि वह सच्चा है–उसे आत्म-गुण होनेका अभिमान है तो उसे आत्माके सामने आकर खड़ा रहना चाहिए। तब अपने आप ही सिद्ध हो जायगा कि वह सच्चा नहीं है, झूँठा है।

एक बार अन्धकारने इन्द्रके पास जाकर शिकायत की कि महाराज, सूर्य मुझे बहुत हैरान किया करता है। इस पर इन्द्रने सूर्यको बुला कर पूछा कि क्या यह बात सच है कि तुम अन्धकारको हैरान करते हो ? उत्तरमें सूर्यने कहा–नहीं महाराज, यह बात सर्वथा असत्य है। और यदि अन्धकार सच्चा हो तो उसे मेरे सामने बुला कर पूछिए। इन्द्रने अन्धकारको बुलाया, पर वहाँ जब तक सूर्य खड़ा रहा, तब तक वह नहीं आ सका। इस दृष्टान्तसे यह समझना चाहिए कि जिसके द्वारा ये घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-दौलत आदि दिखाई देते हैं वह प्रकाशमय आत्मा में ही हैं। इस आत्म-सूर्यका उदय हुआ कि फिर ये सब वस्तुयें अपने आत्मासे अत्यन्त जुदी जान पड़ने लगती हैं। और आत्माको घबराहटमें डालनेवाला मोहरूपी अन्धकार फिर पास भी नहीं फटकने पाता। इस प्रकार मोह चाहे कैसा ही प्रचण्ड बलवान क्यों न हो उस पर भी आत्मज्ञानके द्वारा–'सोहं' तत्त्वकी भावना द्वारा—लोकलोक-प्रकाशक आत्म-सूर्यकी एक किरण द्वारा—सहजहीमें विजय प्राप्त किया जा सकता है।

और लोभरूपी खाई भी तभी तक विषम है जब तक कि आत्म-ज्ञान नहीं हो गया है। क्योंकि आत्मज्ञान होनेके साथ ही हमें हमारे स्वरूपका ज्ञान हो जाता है और हम इस बातको फिर अच्छी तरह समझ लेते हैं कि यह जो चक्रवर्ती-पद या इन्द्र-पद प्राप्त करता है वह तो हमारा आत्मा ही प्राप्त करता है। इन बातोंके प्राप्त करनेके जितना बल तो हममें मौजूद है। न केवल बल ही है, किन्तु इन्द्र-पदका जो वास्तविक सुख है वह तो हमारे आत्मामें ही है। तब फिर जो सुख आत्मासे भिन्न

नहीं, और जो अनन्त है उस आत्मज्ञान-रूप सुखके प्राप्त करनेका क्यों न यत्न किया जाये। इस आत्मज्ञान-रूपी सुखके प्राप्त होते ही तीर्थंकर पद लाभ कर हम लोभको बातकी बातमें जीत सकेंगे। क्योंकि तीर्थंकर होना भी तो आत्माकी ही एक अवस्था है। इस कारण यदि हम लोभ-रूपी खाई कूद जाना चाहते हैं तो उसके लिए हमें आत्मज्ञानके लिए यत्न करना चाहिए। इस आत्मज्ञान द्वारा अनन्त सुख प्राप्त कर हम पर-वस्तु-रूप खाईको बड़ी आसानीसे लाँघ जायँगे।

* * * * *

कामका नाश कौन कर करता है?

जेण सुरासुरनाहो हा हा अणाहुव्व बाहियो सोवि॥
अज्झप्पझाणजलणे पयइ पयंगुत्तणं कामो॥ ८॥

येन सुरासुरनाथो हा हा अनाथ इव बाधितः सोपि।
अध्यात्मध्यानज्वलने पतति पतंगवत् कामो॥

अर्थात् हा! जिसने इन्द्र जैसे बलवानोंको भी एक अनाथकी भाँति निर्बल समझ कर कुचल डाला वही प्रचण्ड बली काम भी जब आत्मामें अध्यात्मरूपी आग जलने लगती है तब पतंगकी भाँति उसमें गिर कर भस्म हो जाता है।

विवेचन—जो बड़े बड़े राजे-महाराजे, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र आदि सभीको—साधारण लोगोंकी तो कुछ बात ही नहीं—बड़ा कष्ट दे रहा है, सबको अपना गुलाम बनाये हुए है, जिस पर विजय करनेके लिए बड़े बड़े महात्माओंके दाँत खट्टे हो जाते हैं वही काम एक दीपककी ज्वालामें गिर कर पतंगकी भाँति बातकी बातमें खाक हो जाता है! परन्तु समझते हो वह प्रदीप कौनसा है? नहीं समझते हो तो सुनो। वह प्रदीप है—अध्यात्म-

ज्ञान! जिस शक्तिको बड़े बड़े बलवान मनुष्य या देव पराजित नहीं कर सकते उसी शक्तिको यह अपूर्व अद्भुत प्रदीप-ज्योति जला कर खाक कर डालती है। मनुष्य सुखकी लालसासे विषयोंका सेवन करते हैं। भ्रमसे स्वादके लोभमें पड़ कर शक्कर खाते हैं और समझते हैं शक्कर मीठी है; परन्तु अपनेमें मीठापना न हो तो शक्कर मीठी नहीं लगती। कारण जिसे बुखार आता है उसे शक्कर मीठी नहीं लगती। इसी प्रकार सुख स्पर्शन-इन्द्रियमें नहीं हैं; किन्तु आत्मामें है। वेश्या, पर-स्त्री या स्व-स्त्रीके संगसे जो सुखका अनुभव होता है वह सुख उनमें न होकर आत्मामें ही है। तब फिर किस लिए स्त्री-गमन—चाहे फिर वह कोई स्त्री हो—किया जाये?

ब्रह्मचर्यका अर्थ है आत्म-रमण और आत्मा अर्थात् अनन्तज्ञानमयी प्रज्वलित ज्योति। इस ज्योतिकी चिनगारीको जहाँ विषय-भावना-रूप ईंधनमें डाला कि काम उसी समय भस्म हो जायगा। अर्थात् आत्माकी ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी ज्वालाको देखते ही कामरूपी पतंग उसमें गिर कर भस्म हो जायगा।

* * * * *

ध्यानसे मन पर विजय किया जाता है—

जं बद्धंपि न चिट्ठई वारिज्जंतवि भमइ असेसं।
झाणवलेण तं पि हु सयमेव विलिज्जइ चित्तं ॥९॥

यद्बद्धमपि न तिष्ठति वार्यमाणमपि भ्रमत्यशेषम्।
ध्यानबलेन तदपि स्वयमेव विलीयते चित्तम् ॥

अर्थात् जो बाँधने पर भी एक जगह नहीं ठहरता, रोकने पर भी सब जगह घूमता फिरता है वही—दुर्जय या चपल—मन आत्म-ध्यानके बलसे अपने आप ही शान्त हो जाता है।

विवेचन–मन सुन्दरता पर ठहरता है। यह घड़ी बड़ी सुन्दर है; परन्तु जिस आत्माने इसे बनाया वह कितना सुन्दर है, इस पर विचार कर उस पर एक बार भी यदि यह ठहर जाय तो फिर संसारमें कोई वस्तु इसके जैसी सुन्दर न रह जाय कि जिस पर वह ठहर सके। वह आत्मा पर ही स्थिरतासे गड़ जायगा। इस प्रकार आत्मा आत्म-दृष्टिसे मनको अपने वश करले तो फिर वह उसे अपनी इच्छानुसार—जहाँ कहीं चाहे और जितनी देर तक चाहे—ठहरा सकता है। कल्पना करो कि मेरे पास एक हीरेका ओंकार है। उसका मूल्य एक हजार रुपया है। इस प्रकार एक हजार रुपयेका हीरा ॐकारको दिखला सकता है–उसका ज्ञान करा सकता है; परन्तु जो ॐकार—आत्मा—हीरेसे बढ़ कर हीरा है—अनन्त सौन्दर्यकी खान है—उसे उसके सच्चे रूपमें देख लिया जाय तो इन्द्रका अनन्त वैभव भी फिर तृणके जैसा तुच्छ जान पड़ने लगता है। ऐसे अनन्त सौन्दर्यशाली आत्माका जो आलंबन लेते हैं–अपने आपको उसी पर निर्भर छोड़ देते हैं–वे अमरत्व-पद लाभ करते हैं और जो इन्द्रियोंके विषयोंका सहारा लेते हैं—उनके सेवनसे ही अपने जीवनकी कृतार्थता ज्ञान करते हैं वे—फिर थोड़े दिनोंमें अपने प्राणोंको खो बैठते हैं। इसलिए कि विषय विषके जैसे हैं। सारांश यह है कि मनके वश करनेके लिए भी पहले आत्मध्यान ही करना चाहिए, इसके बाद अन्य ध्यानकी ओर ध्यान देना चाहिए।

मनके वश करनेके सम्बन्धमें कहनेका मात्र प्रयोजन यह है कि मन आत्मासे श्रेष्ठ नहीं है। आत्मा राजा है और मन उसके मंत्रीकी जगह है। परन्तु साथ ही यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि राजा जिस भाँति अपने कर्मचारियोंके वश हो जाता है उसी भाँति आत्मा भी मनके वश हो रहा है। परन्तु आत्माको जब अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है तब वह अपने शुभ भावोंके अनुसार मन-मंत्रीके द्वारा जिस प्रकार

काम लेना चाहे उसी प्रकार ले सकता है। आत्मारूपी राजाके लिए मन वाइसरायके जैसा है। और इसीलिए मन जो भी कुछ काम करता है उसकी सारी जोखम आत्मा पर ही रहती है। इसलिए मनको वश रख कर अपनी मैत्री आदि भावनाओंको बढ़ाते हुए संसारका उससे काम कराना चाहिए। अर्थात् मनको आत्म-नृपतिकी आज्ञा मान कर ही चलना चाहिए।

अनुभव-पूर्वक मनके वश करनेकी युक्ति।

बहुतसे लोग कहा करते हैं कि मन वश नहीं हो सकता; परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। ऐसे लोगोंसे लेखकका अनुभव पूर्वक कहना है कि जो लोग ऐसा कहते हैं कि मन वश नहीं हो सकता, वे स्वयं बहुत जगह मनको वश करते हैं। क्योंकि व्यवहारकी बातोंमें ऐसा किये विना चलता ही नहीं। कितने कहते हैं कि हम जब माला फेरते हैं या प्रभुका ध्यान करते हैं तब मन स्थिर रहता ही नहीं। इसका उत्तर इतना ही मात्र है कि तुम्हें जितने अपने काम प्यारे हैं, उतने प्यारे प्रभु नहीं हैं। तुम कहोगे कि नहीं, ऐसी बात नहीं है; प्रभु हमें बहुत ही प्यारे हैं; परन्तु मेरा विश्वास इससे उल्टा है और वह सत्य है। तुम्हें प्यारे हैं तुम्हारे स्त्री-पुत्र, धन-दौलत आदि, प्रभु सचमुच ही तुम्हें प्यारे नहीं हैं। तुम कहोगे कि हम प्रभुको चाहते तो बहुत हैं। परन्तु तुम्हारा यह चाहना प्रभुको विना देखे, विना उनका स्वरूप पहचाने और विना उनके बल-ज्ञान-सौन्दर्यके समझे है; और इसी कारण तुम्हारा प्रेम बाह्य दृष्टिमें आनेवाले स्त्री-पुत्र, धन-जन आदि पर जितना है उतना प्रभु पर नहीं है। जिसे तुम अपनी स्त्री समझ रहे हो वह तुम्हारी आँखोंके सामने है, परन्तु प्रभु तो उसकी भाँति आँखोंके सामने–प्रत्यक्ष–नहीं है। तब जो प्रभु प्रत्यक्ष नहीं, उसकी सुन्दरताको तुम कैसे देख सकते हो? तो लेखक कहता है कि प्रभु प्रत्यक्ष है और

यह तुम्हारे भीतर तुम्हारा आत्मा ही है। इसलिए आत्माको देखनेका तुमने यत्न किया कि प्रभुके भी तुम्हें दर्शन हो सकेंगे। तुम कहो कि आत्मा तो अरूपी है, उसे हम किस भाँति देख सकेंगे? लेखक कहता है कि यह सब सच है; परन्तु वह अरूपी है, यह तुमने कहीं सुना है या पढ़ा है? और क्या कभी तुमने उसके देखनेका भी यत्न किया है? जिस भाँति तुम अपने द्वारा शक्करका स्वाद लेते हो उसी भाँति पहले आत्माको देखो तो परमात्मा भी प्रत्यक्ष देख पड़ने लगेगा। समझो कि मैं तुम्हारे साथ बातें कर रहा हूँ, भला बतलाओ कि ये बातें किसके साथ हुई? तुम कहोगे कि मेरे शरीरके साथ, तो शरीर तो जड़ है और जिन आँखोंके द्वारा यह दीख रहा है, वे भी जड़ हैं; तब यह सिद्ध हुआ कि आँखें या शरीर नहीं देखते हैं; परन्तु जो देखता है वह आत्मा है। अच्छा तो आत्मा जो देख रहा है, वह तुम्हारे आत्माको देख रहा है या शरीरको। इनमें शरीर जो दिखाई पड़ रहा है वह तो आँखोंके द्वारा दिखाई पड़ रहा है; परन्तु आत्मा जो देख रहा है वह तो शरीरके भीतर रहनेवाले आत्माको ही देख रहा है। श्रावक आत्मा श्रावक आत्माके साथ बातें करता है, वाचक शरीर श्रावक शरीरके साथ नहीं कर रहा है। कारण कि वे तो जड़ हैं, जिस प्रकाशके द्वारा यह शरीर है, यह लेख है, यह श्रावक है, यह श्रोता है, यह जगत् है, आदि दिखाई पड़ रहा है और जिस ज्ञानके द्वारा यह चौदहराजू-प्रमाण लोक—सारा विश्व—जाना जाता है वह प्रकाश, वह ज्ञान कहाँसे आता है इस ओर दृष्टि दो। अर्थात् विवेकके साथ ज्ञान-दृष्टि द्वारा अन्तरात्माको ढूँढ़ो। ऐसा करनेसे तुम पहले चैतन्यमय अन्तरात्माकी—शुद्ध चिदानन्द-स्वरूप परमात्माकी—परछाँई देख सकोगे और बाद उसके दर्शन कर सकोगे और अन्तमें उसे 'सोहं' तत्वके रूपमें जान सकोगे। तुम्हें मौके पर उसकी परछाँई भी दिखाई पड़ कर बिजलीकी भाँति अपने स्वरूपका आभास भी हो

गया तो निश्चित समझो कि तुम अपने मनको अवश्य वश कर सकोगे। व्यवहारमें तो तुम्हें अपना मन वश करना ही पड़ता है। यदि ऐसा न करो तो एक दिन भी तुम्हारा काम न चले। कल्पना करो कि तुम जिस आफिसमें काम करते हो, उसमें प्रतिदिन तुम्हें दस बजे जाना पड़ता है। अब यदि तुम दस बजे वहाँ न जाओ तो काम नहीं चल सकता। हजार काम छोड़ कर भी तुम्हें अपने समय पर वहाँ पहुँच ही जाना चाहिए। इस प्रकार प्रतिदिन आफिसमें पहुँच जाना ही तुम्हारे लिए मनका वश करना है। इसी प्रकार व्यवहार-सम्बन्धी और भी कितने कार्य हैं, जिनमें इच्छा न रहते भी तुम्हें अपना मन वश करना ही पड़ता है। जब तुम्हें अपना मन थोड़ा-बहुत वश करना पड़ता है, तब उसे कुछ परमात्माके अनुभवनमें भी लगाओ—इस ओर भी उसे लानेका यत्न करो। इस प्रकार यदि तुम एक बार भी मनको उसका स्वामी—आत्म-नृपति दिखा दोगे और स्वामीकी दृष्टि उस पर हो जायगी तो निश्चित समझो कि वह फिर अवश्य ही वश हो जायगा। इसी कारण आचार्य महाराज जयशेखर कहते हैं कि—"ध्यानके बलसे आत्मा मनको वश कर सकता है।" देखो, जिस भाँति घट जलको रोक रखता है; परन्तु घट स्वयं बिना जलके नहीं बनता, उसी भाँति ज्ञान मनको रोकता है, परन्तु वह ज्ञान बिना गुरुके प्राप्त नहीं होता। इस कारण मन वश करनेके लिए ज्ञान-प्राप्तिका यत्न करो। घटमें जलकी भाँति ज्ञानमें—आत्मामें—मन है। कल्पना करो कि तुम्हारे विचारोंने *गिरनार* पर पहुँच कर आसन जमाया; परन्तु ज्ञानने—आत्माने—तो समझा तुम्हारा मन वहाँ गया है। अर्थात् ज्ञानके बाहर—आत्माके बाहर—आत्मभावनाके बाहर मन नहीं गया है। मतलब यह हुआ कि ज्ञानके बाहर मन दौड़ नहीं लगा सकता।

* * * * *

बाह्य और अन्तरंग व्याधि उसे कष्ट नहीं दे सकती—

बहिरंतरंगभेया विविहा वाहि न दिंति तस्स दुहं ।
गुरुवयणाओ जेण सुहज्झाणरसायणं पत्तं ॥ १० ॥

बाह्यान्तरङ्गभेदो विविधो व्याधिर्न ददाति तस्य दुःखम् ।
गुरुवचनाद्येन शुभध्यानरसायनं प्राप्तम् ॥

अर्थात् जिसने गुरु-वचनों द्वारा शुद्ध ध्यानरूप रसायन प्राप्त कर लिया उसे बाह्य—रोग-शोक-दुःख-भय-चिन्ता आदि, और अन्तरंग—राग-द्वेष-काम-क्रोध आदि—नाना प्रकारकी व्याधियाँ कुछ कष्ट नहीं पहुँचा सकतीं।

विवेचन—पशुकी भाँति केवल इन्द्रियोंके वश हुए शिष्यको गुरु महाराज पहले ही जब शुभ ध्यानका उपदेश करते हैं और उस उपदेशसे वह इन्द्रियोंकी गुलामीसे छूट कर—पशुपनेसे छूट कर—मनुष्यत्व लाभ करता है तब उसे शुभ ध्यानका उपदेश करके ज्ञानी बना लेते हैं और बादमें समझाते हैं—

भाई, तू कौन है? वह कहता है, मैं 'विमल' हूँ। यह 'विमल' किसका नाम है? वह कहता है, मेरा। इस नामसे लोग किसे पहचानेंगे? वह कहता है, मुझे। तो अब तू विचार कर कि जिस शरीरको तू देख रहा है, वह तुझसे भिन्न है या वही तू है? शिष्य तब कुछ सोच-विचार करके कहता है कि यह शरीर मुझसे भिन्न है, परन्तु इतना जरूर है कि वह मेरा है। इस पर आचार्य कहते हैं कि यह सच है कि यह शरीर तेरा है, पर तू तो इस शरीर-रूप नहीं न है? शिष्य कहता है, नहीं। तब तो 'विमल' यह नाम एक प्रकार तेरे शरीरका नाम हुआ। शिष्य 'हाँ' कह कर स्वीकार करता है। गुरु पूछते हैं, तब तू कौन है? शिष्य कहता है, महाराज, आपने मुझे ध्यानका उपदेश करते समय यह बतलाया है कि—'यह शरीर नामकर्मकी प्रकृति है।' तब तो मैं इस

शरीरसे भिन्न-केवल इसे जानने देखनेवाला-ही ठहरा। गुरु कहते हैं तब तो तू नामकर्मकी प्रकृति जो 'विमल' है, उसका मात्र ज्ञाता-द्रष्टा है। शिष्य 'हाँ' कहता है। अच्छा तो फिर ज्ञाता-द्रष्टा किसे कहते हैं? शिष्य कहता है, ज्ञान और दर्शन ये दो शक्तियाँ हैं। ज्ञानका अर्थ है वस्तुका यथार्थ जानना और दर्शनका अर्थ है वस्तुका यथार्थ देखना। इन दोनों शक्तियोंके द्वारा चेतन—आत्मा—और जड़—शरीरादि—को भिन्न भिन्न जानने-देखनेको ज्ञाता-द्रष्टा कहते हैं। इस पर गुरुने शिष्यसे पूछा-ये ज्ञान-दर्शन गुण किसके हैं?

शिष्यने कहा-मेरे।

गुरुने कहा—'मेरा' यह मेरा कहनेवाला कौन है?

शिष्य बोला-मैं कुछ हूँ, जो शरीरसे भिन्न है। और ये ज्ञान-दर्शन वगैरह उस कुछके गुण अर्थात् मेरे हैं।

गुरुने कहा-तूने बहुत ठीक कहा। जिस भाँति सूर्यका गुण प्रकाश है, उसी भाँति तेरे गुण ज्ञान-दर्शन हैं। और जिस भाँति प्रकाशके द्वारा सूर्यका ज्ञान होता है, उसी भाँति तेरे ज्ञान-दर्शन गुणोंके द्वारा तेरा-आत्माका—ज्ञान होता है और यह आत्मा और कुछ नहीं 'तू' ही है। यही ऋषियोंने कहा है, 'तत्त्वम्।' और इतना और समझ कि जिस भाँति प्रकाश और सूर्य भिन्न भिन्न नहीं हैं उसी भाँति ज्ञान-दर्शन और आत्मा भी भिन्न भिन्न नहीं है।

शिष्यने प्रसन्न होकर कहा-हाँ, गुरुमहाराज, जैसा आप कहते हैं वैसा ही है। आत्मा 'मैं' हूँ और 'मैं' वही आत्मा है। 'सोहं. अहं सः।'

इस पर गुरुने कहा-परन्तु सुन, इसमें कुछ थोड़ीसी विशेषता है। वह यह कि जिस भाँति सूर्यके आस-पास काले और सफेद बादल होते हैं उसी भाँति 'तेरे' अर्थात् आत्माके आस-पास अशुभ और शुभ कर्मरूपी बादल हैं-कर्म आत्माको घेरे हुए हैं। ये कर्म जब तक आत्मासे

अलग न होंगे तब तक तू अन्तरात्मा कहलायेगा, परमात्मा नहीं कहला सकता। और जब तू इन शुभ-अशुभ कर्मोंको–पहले अशुभ और बाद शुभ कर्मोंको–नष्ट कर देगा तब जो तत्त्व प्रगट होगा वही 'सोहं' तत्त्व है और वही 'तू' है।

इस पर शिष्यने गुरुमहाराजका अनन्त उपकार माना। कारण कि गुरुने उसे *यह बात अच्छी तरह* समझा दी है कि वह स्वयं आत्मा–अन्तरात्मा, शुद्धात्मा या परमात्मा जैसा कुछ है–है। वह गुरुके इस ज्ञान-रसायनको पान कर स-बल, स-वीर्य और शुद्ध हो गया है। वह अब स्वप्नमें भी यह नहीं समझता कि मैं शरीर-रूप हूँ; किन्तु समझता है मैं आत्म-स्वरूप हूँ। सूर्य तो लोकके थोड़ेसे भागको ही प्रकाशित करता है, और मैं लोक और अलोक दोनोंका प्रकाशक हूँ; और इन कर्मोंके नष्ट करनेका भी प्रयत्न कर रहा हूँ। इस प्रकार वीर्यशाली अन्तरात्म-स्वरूप–आनन्दघन–शिष्यके शरीरमें यदि कोई बाह्य व्याधि हो तो उसे समझना चाहिए कि वह व्याधि–रोग–अशुभ कर्मोंको उदयमें लाकर उनकी निवृत्ति करना चाहता है। यह व्याधि शरीरके सम्बन्धसे हुई है और शरीरमें ही हुई है। मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं है–मैं तो आत्मा हूँ। दीपक जिस भाँति केवल देखनेवाला है, उसी भाँति मैं भी इस व्याधि-पूर्ण शरीरका देखने जाननेवाला मात्र हूँ। और इस प्रकार देखनेवाले दीपकमें जब किसी प्रकारका फेर-फार नहीं होता, तब मुझमें ही फेर-फार क्यों होना चाहिए। इस विश्वास पर निर्भर रह कर बाह्य व्याधिसे पीड़ित होने पर भी वह फिर किसी प्रकार खेदका अनुभव नहीं करता, किन्तु उल्टा आनन्दित होता है। इसलिए कि वह पापके फलरूप रोगको भोग कर शुद्ध होता जा रहा है–अशुभ कर्मोंको जुलाब देकर स्वच्छ बनता जा रहा है। वह समझता है कि बादलोंकी काली घटाके नष्ट हो जाने पर जिस भाँति सूर्य प्रकाशित होता है, उसी भाँति अशुभ कर्मोंके नष्ट हो जाने

पर आत्मा अधिकताके लिए प्रकाशित होगा। और इसी लिए वह जिन अशुभ कर्मों द्वारा शरीरादिक प्राप्त होते हैं, उनसे दूर रह कर निज स्वरूपमें स्थिर रहनेका यत्न करता है। फिर वह अशुभ कर्मोंको नहीं चाहता। इतना होने पर भी वह शुभ कर्मरूप बादलोंको अब तक दूर नहीं कर सका है। इसी प्रकार उसने जो क्रोध-मान-मायादिरूप अन्तरंग बादलोंको नष्ट कर दिया है उससे उसे कोई कष्टका अनुभव नहीं होता। क्रोधादिके उत्पन्न होनेका कारण जो शरीरादिके साथ ममत्व-भाव था, उसके नष्ट हो जानेसे अब क्रोध उत्पन्न नहीं होता; और कभी कुछ साधारण आत्म-दुर्बलताके कारण वह हो भी गया तो उसे उसी समय वह निष्फल कर डालता है। कल्पना करो कि हमें किसीने गालियाँ दीं, उस समय उस पर क्रोध न करके सोचना चाहिए कि हमारे अशुभ कर्मोंका उदय है, तब गालियाँ खाकर हमें सीधे मार्ग पर आना ही चाहिए। हम तो आत्म-स्वरूप हैं, उसे कोई सीधे मार्ग पर लावे तो उस पर क्रोध करके हमें क्यों खेदित होना चाहिए और हृदयमें जलना चाहिए? हमारा कोई काम करे तब तो हमें उल्टा उसका कृतज्ञ होना चाहिए। इस प्रकारसे जब शरीरादिकसे ममत्व-भाव नष्ट हो जाता है, तब हमें चाहे कोई मारे, गालियाँ दे, कष्ट दे, उनका हम पर कोई असर नहीं होता।

इसी प्रकार किसका मान और किसका अपमान? आत्मा तो इन सब बातोंका ज्ञाता-द्रष्टा है। आत्माका इस भाँति पर-भाव नष्ट होकर जैसे जैसे वह स्वभावमें स्थिर होता जायगा तैसे तैसे उसकी सम्पूर्ण कषायें नष्ट होकर वह पूर्ण निरोगी--निर्मल--होगा। और अन्तमें शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका नाश कर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय होकर--निज-स्वरूप प्राप्त कर--निर्वाण लाभ करेगा।

* * * * *

आत्मचिन्तनमें तत्पर आत्माको कष्टका अनुभव नहीं होता—

जिअमप्पचिंतणपरं ण कोइ पीडेइ अहवा पीडेइ ।
ता तस्स णत्थि दुक्खं रिणमुक्कमण्णमाणस्स ॥ ११ ॥

जीवमात्मचिंतनपरं न कोपि पीडयत्यथवा पीडयति ।
तस्मात्तस्य नास्ति दुःखमृणमुक्तमन्यमानस्य ॥

अर्थात्—आत्म-चिन्तनमें लीन मनुष्यको कोई दुःख नहीं पहुँचा सकता; और कभी कोई कष्ट दे भी तो उससे उसे कष्ट नहीं होता। कारण वह तो उस समय यह सोचता है कि मैं तो ऋण-मुक्त हो रहा हूँ।

विवेचन—जिस भाँति किसी मनुष्य पर ऋण हो रहा है और वह जब उसे चुका कर छुटकारा पा जाता है, तब अपनेको बड़ा सुखी समझने लगता है, उसी भाँति जब आत्म-विचारशील मनुष्यों पर कोई प्रकारका कष्ट या विपत्ति आकर पड़ती है तो वे उसे कष्ट न मान कर यह सोचते हैं, हमने जो पूर्व-जन्ममें पाप-कर्म बाँधे थे उनका यह फल है—कर्मोंका ऋण चुक रहा है—इसमें हमें दुःख करनेकी कोई बात नहीं है, बल्कि ऋण-मुक्त होना तो उल्टा सुखका कारण है। और इसी लिए वे फिर दुःखोंको भोगते हुए भी ज्ञान, वीर्य आदि आत्म-गुणोंसे अपनेको इतना बलशाली बना लेते हैं कि उन्हें अपने पर आये हुए दुःखोंका अनुभव ही नहीं होता।

ऊपर जो कहा गया है कि उन आत्माओंको कोई कष्ट या विपत्ति नहीं सता पाती जो कि आत्म-चिंतनमें लीन रहते हैं। यह बहुत ठीक कहा गया है। कल्पना करो कि जिस समय तुम कोई पुस्तक पढ़ रहे हो, या कोई विचारमें मग्न हो और तुम्हारी आँखें भी खुली हुई हों तो भी तुम्हारा उपयोग उस ओर इतना लगा रहता है कि अपने पास आते हुए मनुष्यको भी सहसा तुम न देख सकोगे—तुम्हारी खुली आँखें उस समय किसी

वस्तुको न देख रही होंगी। इसी प्रकार जब तुम कोई शुभ-विचारमें मग्न हो रहे हो या कभी कोई अशुभ-विचारमें लीन हो तब तुम्हें गरमी, ठंड आदिका अनुभव नहीं होता। ठीक यही हालत आत्म-चिंतन करनेवालोंकी है। वे जब आत्म-चिंतनमें डूबे रहते हैं–आत्म-सुखका स्वाद लेते हैं, तब उनका चित्त उसमें खूब गर्क–एकमेक–हो जाता है तब उन्हें कष्ट पहुँचा ही कौन सकता है, और पहुँचावे तो भी उसकी उन्हें रत्तीभर भी खबर नहीं पड़ती। और पड़ती भी हो तो वे यह समझते हैं कि शरीरने जो किया है उसका फल उसे भोगना ही चाहिए। यह समझ कर वे शरीरको भी ऋण-मुक्त करनेका यत्न कर अपने स्वरूपमें मग्न रहते हैं।

* * * * *

मनकी चंचलता कैसे मिटती है?

दुक्खाण खाणी खलु रागदोसो,
ते हुंति चित्तम्मि चलाचलम्मि।
अज्जप्पजोगेण चएइ चित्तं,
चलत्तमालाणिअकुंजरुव्व ॥ १२ ॥

दुःखानां खानिः खलु राग-द्वेषौ तौ भवतश्चित्ते चलाचले।
अध्यात्मयोगेन त्यजति चित्तं चलत्वमालानितकुंजर इव ॥

अर्थात्–वास्तवमें राग-द्वेष ही दुःखोंकी खान है। और राग-द्वेष चित्तके चल-विचल होने पर होते हैं। उसकी यह चल-विचलता अध्यात्म-योग द्वारा मिट सकती है, जिस भाँति कि हाथीकी चपलता उसे खंबेसे बाँध देनेसे मिट जाती है।

विवेचन—अपने लड़केको दुखी देख कर हमें जो कष्ट होता है वह दूसरेके लड़केको दुखी देख कर नहीं होता। इसका कारण राग-भाव है–

स्नेहभाव है। हमारे लड़के पर हमारा जो स्नेह है, वह दूसरेके लड़के पर नहीं है; इसी कारण दूसरेके लड़केको दुखी देख कर हमें दुःख नहीं होता। हमारे हृदयमें जो अपने और परकी कल्पना समाई हुई है, उससे 'यह मेरा है और यह दूसरेका है' इस प्रकारके भेदभावकी लहरें हृदयरूपी समुद्रमें लहराती रहती हैं। इस कारण जहाँ ऐसी अपने परायेकी कल्पना है वहीं दुःख होता है और जहाँ ऐसी कल्पना नहीं है वहाँ राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं हो पाते।

शिष्य पूछता है, महाराज, यह कैसे हो सकता है कि अपने पुत्रको दुखी देख कर पिताको दुःख न हो? जब वह उसका पुत्र है तब उस पर पिताका राग या प्रेम होना ही चाहिए।

इस पर गुरुने कहा, सर्वथा ऐसा ही नहीं है कि वह उसका पुत्र है इसी लिए पिताका पुत्र पर राग है। यदि पुत्र पर प्रेम करनेका यही एक कारण होता तो संसारमें फिर ऐसे उदाहरण नहीं देख पड़ने चाहिए थे कि जो पिता-पुत्रमें शत्रुता भी प्रगट करते हैं। इतिहासमें ऐसी अनेक घटनायें मिलती हैं, जो पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको स्वार्थ-वश होकर जानसे तक मार डाला है। परन्तु वास्तवमें यदि विचार करोगे तो जान पड़ेगा कि पुत्र पर प्रेम होता है उसका कारण राग-भावकी तीव्रता है। हाँ यह सच है कि इस रागका निमित्त कारण पिताका पुत्रको जन्म देना है। इसी रागके कारण एक पर प्रेम और दूसरे पर द्वेष होता है। जब तक हृदयमें यह कल्पना स्थान किये बैठी है कि 'मेरा और तेरा' 'सुख और दुःख' तब तक राग-द्वेष रहते हैं, और ये राग-द्वेष ही दुःखोंकी खान हैं।

इसके अतिरिक्त और जरा गहरा विचार करो तो जान पड़ेगा कि वह पुत्र हमारा नहीं है, किन्तु इस दृश्यमान शरीरका है; और यह शरीर पुद्गलरूप जड़ वस्तुका है—हमारा नहीं है। हम तो चैतन्य-स्वरूप हैं। इस प्रकार मनरूपी हाथीको अध्यात्म-योगमें जब तक नहीं लगाया

जाता–चैतन्यभाव-स्वरूप संवेसे नहीं बाँधा जाता–तब तक उसकी चपलता कभी नहीं मिट सकती। और जब तक इसे दूर न किया जा सकेगा तब तक दुःखोंका भी अन्त न आवेगा।

हाँ देखो, *जिस भाँति उजेला और अँधेरा दिन और रात होने पर* भी सूर्यमें तो निरंतर प्रकाश ही बना रहता है, उसी भाँति सुख और दुःखका प्रतिभास होने पर भी आत्मामें तो निरंतर स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुखका ही प्रकाश है। इस प्रकार अनन्त ज्ञानादिके भंडार *आत्माके* ध्यानमें इस मन-मतंगको बाँध दिया जाय तो राग-द्वेष उत्पन्न ही न होंगे और इनके उत्पन्न न होनेसे इनके द्वारा होनेवाले दुःख भी नष्ट हो जायँगे। इसके बाद वह पवित्र आत्मा फिर अपने अनन्त स्वरूपका अनुभव करने लगेगा।

अब कुछ लोग ऐसे निकलेंगे जिन्हें पर-वस्तु मात्र पर, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी द्वेष होगा और जीव मात्र पर राग होगा, और इसी कारण वे सबको सुखी देख कर सुखी और दुखी देख कर दुखी होंगे। परन्तु वास्तवमें तो सच्चा मार्ग यह है कि न तो पर-वस्तु पर द्वेष हो और न अपने पर राग हो। राग और द्वेष दोनोंको ही दूर कर समभावमें लीन होना चाहिए—आत्मरत होना चाहिए। ऐसा करनेसे आत्माके शुद्ध ज्ञान-गुणका विकाश होकर उसमें सब द्रव्य गुण-पर्याय-सहित झलकने लग जायँगे। आत्माकी ऐसी अवस्था अध्यात्म-योग द्वारा चित्तको उसमें लीन करनेसे होगी।

* * * * *

अच्छे बुरे परिणाम किस कारणसे होते हैं?

एसो मित्तममित्तं एसो सग्गो तहेव णरओ य।
एसो राया रंको अप्पा तुट्ठो अतुट्ठो वा॥ १३॥

एप मित्रममित्रमेप स्वर्गस्तथैव नरकश्च ।
एप राजा रंक आत्मा तुष्टोऽतुष्टो वा ॥

अर्थात्—यदि आत्मा सन्तुष्ट है—प्रसन्न है—तो वही मित्र है, वही स्वर्ग है और वही राजा है और यदि वह असन्तुष्ट—अप्रसन्न है—तो वही शत्रु है, वही नरक है और वही रंक है अर्थात् आत्माकी अच्छी और बुरी स्थिति ही उसके अच्छे-बुरे परिणामोंकी कारण है।

विवेचन—आत्मा सम-भावोंसे यदि युक्त है तो वही मित्र है और विषम-भावों अर्थात् राग-द्वेष-सहित है तो वही शत्रु है। इसी प्रकार यदि वह शुभ-भाव-युक्त है तो स्वर्गको प्राप्त करता है, और अशुभ भाव-सहित है, तो नरकोंमें दुःख भोगता है। प्रसन्न होता है तो राजा बना देता है और अप्रसन्न होता है तो रंक—दरिद्री—भिखारी बना देता है। ये जो अच्छे या बुरे परिणाम होते हैं वे आत्माके ही देखे जाते हैं और इन्हींके अनुसार फिर उसकी अच्छी या बुरी गति होती है। नरकमें जाना भी आत्माके हाथमें है और स्वर्गमें जाना भी उसीके हाथमें है। कारण नरक और स्वर्ग जाने योग्य कर्मोंका करनेवाला वह स्वयं ही है। इसी प्रकार राजा बनना या रंक होना और मोक्ष जाना या निगोदमें रहना यह सब भी आत्माके हाथकी बात है। अर्थात् अपनी सब स्थितिका कर्त्ता स्वयं आत्मा ही है—अन्य कोई नहीं है।

ईश्वर कर्त्ता है या आत्मा?

अब देखिए और कल्पना कीजिए कि मेरे हाथमें जो यह पेन्सिल है उसे किसने बनाया? कहना पड़ेगा कि मनुष्यने—मनुष्यमें रहनेवाले आत्माने। अच्छा तो फिर पेन्सिलके बीचकी लेडको किसने बनाया? कहना पड़ेगा कि मनुष्यमें रहनेवाले आत्माने। अच्छा तब इसके काष्ठको किसने बनाया? कहना पड़ेगा कि काष्ठमें रहनेवाले आत्माने। अच्छा लेडको वस्तुके रूपमें किसने बनाया?

कहना पड़ेगा कि वस्तुमें रहे हुए आत्माने । इस प्रकार संसारके जितने भी पदार्थ हैं उन सबका कर्त्ता—बनानेवाला—आत्मा ही है। और यही ईश्वर है, यही देव है, जगत्का कर्त्ता है, और इसी प्रकार जगत्का भोक्ता भी है। यदि यह आत्मा अपने निज स्वरूपको—ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय आत्माको जानने लगे तो इसे जान पड़ेगा कि ईश्वर, परमात्मा या देवाधिदेव जो कुछ भी है वह सब स्वयं आत्मा ही है। इस भाँति कर्त्ता-अकर्त्ताके प्रश्न पर विचार किया जाय तो जैनों और अन्यमतोंके बीच जो 'ईश्वर कर्त्ता है या आत्मा कर्त्ता है' इस विषय पर खट-पट चला करती है, उसका बहुत कुछ अन्त आ सकता है। जब कि एक कर्मोंके कर्त्ता ईश्वरको कर्त्ता मानते हैं तब जैनी लोग कर्मोंका नाश करके अपने स्वरूपमें स्थिर रहनेवालेको ही ईश्वर या परमेश्वर मानते हैं।

* * * * *

सन्तोषके सिवा शान्ति कहाँ है?

लद्धा सुरणररिद्धिविसया विसदा णिसेविआणेण।
पुण संतोसेण विणा किं कत्थवि णिव्वुइ जाया ॥१४॥

लब्धा सुरनररिद्धिर्विषया अपि सदा निषेविता अनेन।
पुनः सन्तोषेण विना किं कुत्रापि निर्वृतिर्जाता ॥

अर्थात्—इस आत्माने देवों और मनुष्योंकी सम्पदा प्राप्त की, विषयोंका भी खूब सेवन किया, परन्तु सन्तोषके बिना इसे कहीं भी शान्ति नहीं मिली।

विवेचन—आत्मा कर्म करता है और उन कर्मोंके फलसे उसे मनुष्य आदि देह प्राप्त होता है। इसी प्रकार मनुष्य धन-दौलत कमाता है और उसके द्वारा उसे नाना प्रकारके विषय प्राप्त होते हैं। इस बात पर विचार करनेसे स्पष्ट जान पड़ता है कि विषयोंका कर्त्ता धन है, धनका

कर्त्ता या पैदा करनेवाला मनुष्य—उसकी कर्ममय शक्ति—है, मनुष्य-शरीरका कर्त्ता कर्म है और कर्मोंका कर्त्ता आत्मा है। इससे मतलब यह हुआ कि विषयोंका कर्त्ता भी आत्मा है। अच्छा तो अब उससे पूछना चाहिए कि तुझे सुख विषयोंमें मिला या धन-दौलतमें? यदि सुख विषयोंमें मिला हो और तेरी उनसे तृप्ति हो गई हो तो फिर इतनी हाय हाय किस लिए करता है? तुझे भूख लगी और तूने खाया भी; परन्तु उससे क्या तेरी भूख मिट गई? जिस भूखको तूने भोजन-रूप विषय द्वारा मिटाना चाहा था, परन्तु वह मिट कर तुझे सन्तोष तो नहीं हुआ। सबेरे खाया और शामको फिर भूखाका भूखा ही रहा। तेरा पेट थोड़ी देरके लिए भरा और फिर खालीका खाली रहा। इसी प्रकार तूने आज पाँच रुपये कमा कर अपनी सन्दूकमें रक्खे; तेरी तृप्ति नहीं हुई। कल दस रुपये रक्खे तो भी तेरी तृप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार यह संख्या बढ़ते बढ़ते लाखों या करोड़ों पर पहुँच गई; परन्तु देखा फिर भी तुझे तृप्ति नहीं हुई। और तेरा आशा-असन्तोष वैसाका वैसा ही बना रहा। इतने कहनेका सार यह है कि जब तक सन्तोष नहीं होता, तब-तक कभी सुख नहीं मिल सकता।

देखो, जिस मनुष्यके पास एक पैसा नहीं है और भाग्यसे उसे पैसा मिल जाता है, तो तुरंत ही उसकी तृष्णा दो पैसेके लिए बढ़ जाती है। मतलब यह हुआ कि उसे एक पैसेकी प्राप्तिसे जो सुख मिलता था उस सुख-को दो पैसेकी तृष्णाने भुला दिया। इस एक पैसेके मिलनेके पहले उसे एक आनेके मिल जानेकी तृष्णा हुई थी; परन्तु एक आना उसे नहीं मिला और जब तक वह न मिले तब तक उसे पूर्ण सुख भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक-दस-सौ-हजार-लाख-करोड़ रुपया भी मिल जायँ तो भी उसे सन्तोष नहीं होनेका। भाग्यसे वह कभी चक्रवर्ती या स्वर्गका इन्द्र हो जाय तो भी उसे सन्तोष न होगा। इस प्रकार लोभरूप राक्षसीका न

कभी पेट भरेगा और न सन्तोष होगा। खाने तक कुछ सन्तोष-सा जान पड़ेगा; परन्तु वह सन्तोष नाम मात्रका सन्तोष है, उससे सदाके लिए तृष्णाका नाश नहीं होता। यह सन्तोष तो उस पैसेके सुखके जैसा है जो नितान्त दरिद्रको एक पैसा कहींसे मिला और उसका तो सुख वह अभी भोग ही न पाया कि दो पैसेकी तृष्णाने आकर उसके उस सुखको भी नष्ट कर दिया।

इसके लिए सन्तोषी होनेकी दो रीतियां हैं। एक तो बाह्य और दूसरी आन्तरङ्गिक। सोचो कि जब एक बड़े शहरमें हमें दस रुपया महीना मिलता था, तब हम विचारते थे कि पहले जहाँ कुछ नहीं मिलता था वहाँ अब दस रुपया महीना तो मिलने लगे। इतना सोच कर ही हम सन्तोष कर लेते थे। जब आठ आनेवाली टोपी लगाते थे तब भी सन्तुष्ट और सुखी थे और अब एक रुपया, दो रुपया तथा चार रुपयेकी टोपी लगाते हैं या पगड़ी बाँधते हैं तो भी सुखी हैं। इस प्रकार तृष्णा बढ़ती तो भी प्रत्येक अवस्थामें सन्तोष मान कर हम सुखी रहते थे।

एक बार हमारे पास दोसौ रुपया हो गये। दुर्भाग्यसे कुछ दिनों बाद उनमेंसे सौ रुपया कोई उठा ले गया। सोचा कि जब पास एक कौड़ी भी नहीं थी उसकी अपेक्षा सौ रुपया तो मोजूद हैं। यह सोच कर जो रुपये चले गये उनके लिए शोक न कर जो कुछ पास बचे रहे उन्हींमें सन्तोष मान लिया।

एक बार विदेशसे आते समय किसी बन्धुकी ओरसे एक कीमती दुसाला भेंटमें मिला। उसे कोई दो-तीन महीने तक उपयोगमें लिया। बाद कहीं जाते समय रास्तेमें किसीने उसे गायब कर लिया। इसके पहले कि जब हमारे पास दुसाला न था, जैसी हमारी स्थिति थी और जिसमें हमें कोई प्रकारका सुख दुःख न जान पड़ता, वैसी ही फिर हो गई; परन्तु इस बीचमें उस दुसालेके द्वारा दो-तीन महीने तक हमने कुछ विशेष

सुख अवश्य पा लिया। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुकी प्राप्तिमें सन्तोष करनेसे वह अपना सुख–जितना उसमें होता है–दे जाती है। और इस लिए सार-हीन वस्तुमें भी फिर आनन्दका अनुभव किया जाने लगता है। देखो, इस पुस्तकके लेखक को भी अन्य बंधुओंकी भाँति मनुष्यपना प्राप्त है, और इसमें इसे पूर्ण सन्तोष भी है। इसका इसे जो आनन्द है, उससे यह अनेक प्रकारके अच्छे अच्छे विचार करता रहता है और मनुष्यपनेमें भी जैनत्व प्राप्त होनेके कारण जिनके—कर्म-जयके—मार्गके सिद्ध करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करता रहता है। इतने कहनेका सार यह है कि मनुष्य को यदि सब अवस्थाओंमें सन्तोष हो तो फिर उसके लिए यहीं स्वर्गके जैसा सुख जान पड़ने लगता है।

सन्तोषसे आन्तरङ्गिक सुख कैसे भोगा जाता है?

जो राजा होता है, वह भी अपनेमें रहनेवाले आत्माकी व्यावहारिक क्रियाओंके द्वारा ही होता है। कारण आत्मामें राजा होनेकी, चक्रवर्ती होनेकी या इन्द्र होनेकी शक्ति है। तब यह सिद्ध हुआ कि एक छोटेसे कीड़े और अतिशय दरिद्रसे लेकर इन्द्र तककी सब ऋद्धि-वैभवको प्राप्त करनेकी बाह्य शक्ति आत्मामें है। मैं भी आत्मा हूँ, मेरी तिजोरीमें भी न केवल इन्द्र ही किन्तु तीर्थंकर-पद प्राप्त करनेरूप धन भी भरा हुआ है। मात्र 'समता सर्वभूतेषु' इस प्रकारकी भावनारूप तालीके द्वारा तालेके खोलनेकी आवश्यकता है। उसके खुलते ही आत्मामेंसे तीर्थंकर-पद प्रगट हो जायगा। इसी प्रकार केवलज्ञानमय आत्माका शुद्ध निश्चल पद भी हमें प्राप्त करना है। इस प्रकार आत्माकी ये सब बाह्य और आन्तरङ्गिक शक्तियाँ हमारे आत्माके ही हाथमें हैं और वे सब सन्तोष रखनेसे प्राप्त हो सकती हैं, फिर इनके लिए तृष्णा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

एक ऐसा मनुष्य है कि जिसके घरमें अमृतके भंडार भरे हुए हैं; परन्तु उनकी उसे मालूम नहीं है। जब अपने घरका हाल उसे ज्ञात हुआ, और उसे विश्वास हो गया कि मेरे घरमें खूब अमृतके भंडार भरे हुए हैं तब वह उनमेंसे प्रति दिन लोटे भर-भर कर पीना आरंभ कर सन्तोष लाभ करे तो कितना अच्छा हो! इसी प्रकार आत्मामें अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप अमृतके भंडार भरे हुए हैं। उनमेंसे प्रति दिन पवित्र मनरूपी गिलास द्वारा यदि पीना आरंभ किया जाय तो उससे अनन्त जन्मोंके दुःख क्षण भरमें नष्ट होकर वह आत्मा इतना शुद्ध और इतना उज्ज्वल बन जायगा कि फिर कभी उसे दुःख वगैरह छू तक भी न सकेंगे।

* * * * *

आत्माकी अनंत ज्ञानमयी शक्ति क्यों नहीं खिलती?

जीव सयंचिय णिम्मियतणुधणरमणीकुटुंबणेहेण।
मेहेणिव दिणणाहो छाइज्जसि तेजवंतोवि॥ १५॥

जीवः स्वयमेव निर्मिततनुधनरमणीकुटुंबस्नेहेन।
मेघेनेव दिननाथ इछाद्यते तेजस्वी अपि॥

अर्थात् जिस भाँति तेजस्वी सूर्य भी मेघोंसे आच्छादित हो जाता है उसी भाँति अपने आप ही उत्पन्न किये शरीर, धन-जन, कुटुम्ब-परिवार आदिके मोहसे यह आत्मा भी आच्छादित है—पराभूत है।

विवेचन—सूर्य सर्वत्र प्रकाश और गरमी करता है। वह उन्हें उस समुद्रमें भी पहुँचाता है; जहाँ पानीकी भाफ बन कर बादल बन जाते हैं और फिर वे ही बादल उस सूर्यको भी ढक देते हैं। इसके बाद सूर्य फिर गरमी उत्पन्न कर उन बादलोंको बरसाता है और आप निरावरण होता है। ठीक यही हालत आत्माकी है। वह अपने ज्ञानका उपयोग करनेके बदले स्थूल विषयोंका उपयोग करता है। उन विषयोंमें मोहनीय कर्मकी भाफ

बन कर वह आत्माको ही ढक देती है। यदि अब आत्मा सूर्यकी भाँति विशेष गरमी उत्पन्न कर–तप कर—मोहनीय-कर्मरूपी बादलोंको नष्ट कर सके तो निरावरण हो सकता है।

यह ठीक है कि आकाशमें बादलोंकी घन-घोर घटायें छाई हुई हों और उससे सूर्य न दिखाई पड़ता हो, परन्तु इतना तो अवश्य है कि उस समय भी जो बादल दिखाई पड़ते हैं वे सूर्यके प्रकाशसे ही दिखाई पड़ रहे हैं। इसी प्रकार आत्म-सूर्य भी यद्यपि मोहनीय-कर्मसे आच्छादित है, परन्तु वह कर्म इस अपूर्व सूर्यके प्रकाशमें स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। अब यदि यह आत्म-सूर्य उसका स्वरूप समझ कर, अपना बलवीर्य प्रकट कर शुभ-भावनारूपी वायु द्वारा इन मोहनीय-कर्मरूपी बादलोंको उड़ा सके—तीन तेरह कर सके–या पश्चात्ताप द्वारा उन्हें पिघला सके तो स्वयं निरावरण हो सकता है।

* * * * *

शरीरसे मोह किस लिए छोड़ा जाता है—

जं वाहिवालवेसाणराण तुह वेरिआण साहीणं।
देहे तत्थ ममत्तं जिअ कुणमाणोवि किं लहसि॥ १६॥

यद् व्याधिव्यालवैश्वानराणां तव वैरिणां स्वाधीनं।
देहे तथा ममत्वं जीवः कुर्वन्नपि किं लभसे॥

अर्थात्—जो शरीर अपने शत्रु व्याधि-रूपी सर्पो या अग्निके स्वाधीन है उसमें मोह करके जीव क्या लाभ उठा सकता है?

विवेचन—जो प्रजा अपनी होने पर भी यदि अपनेको नहीं चाहती तो उसे देशनिकाला क्यों न दिया जावे? उसी प्रकार अपने सुखके लिए तुमने इस शरीरको खूब खिलाया पिलाया, आराम दिया, उसकी इच्छाको समय समय पर पूरा किया, वही शरीर जब तुम्हारे अधीन न रह कर रोग-शोक-दुःख-चिन्ता आदि सर्पोंके अधीन रहे तब फिर उसमें तुम्हें ममत्व क्यों करना चाहिए? इसलिए उचित तो यही है कि तुम इस स्थूल शरीरसे मोह छोड़ कर आत्म-शरीरके साथ मोह करो। उससे तुम्हारे सब रोग मिट कर तुम निरोग हो जाओगे; तुममें जो विषयोंका विष फैल रहा है, वह नष्ट होकर उसकी जगह अमृतका प्रवाह वह उठेगा; और चिन्ता-दुःख आदिकी आगको शान्तिरूपी जल बुझा कर शान्त कर देगा। जिसने आत्माको ही शरीर समझ कर उसीके साथ सच्चा मोह किया है, उसके अशुभ कर्म भी इतने शुभ हो जाते हैं कि फिर वह आत्मा जिस रोगीको छूता है वह निरोग हो जाता है, विष चढ़े हुएका स्पर्श करता है तो वह निर्विष हो जाता है; आशीविष-सदृश भयंकर सर्पके विषसे काले पड़े हुएका स्पर्श करता है तो वह उसी समय अमृत पिये हुए-की भाँति तेजस्वी हो उठता है। इसलिए उचित है कि तुम स्थूल शरी-

रसे मोह छोड़ कर आत्माको शरीर समझो और इसी रूपमें उसका अनुभव करनेका यत्न करो।

और देखो, इस आत्माको वश करनेवाली मुख्य चार व्याधियाँ हैं। वे हैं क्रोध, मान, माया और लोभ। जब आत्मा क्रोधके वश होता है तब काला पड़ जाता है, मानके वश होता है तब अकड़ जाता है, मायाके वश होता है तब सींगकी भाँति बाँका-टेढ़ा हो जाता है और लोभके वश होता है तब पीला पड़ कर पचक जाता है। ऐसी हालतमें तुम्हें उचित है कि उसके क्रोधरूपी कालेपनको क्षमारूपी निर्मल पवित्र गंगाजलसे, मानको नम्रतारूपी तैलके मालिशसे, मायाको सरलतारूपी कसरतसे और लोभको सन्तोषसे दूर करो। इन चारोंको जहाँ तुमने अपने अधीन कर लिया कि फिर तुम्हें कोई कष्ट न होगा, किसीकी गुलामी करनी नहीं पड़ेगी और तुम उस स्थानके बहुत सन्निकट पहुँच जाओगे, जहाँ अनन्त सुखके भण्डार भरे हुए हैं।

* * * * *

शरीर आत्माका शत्रु है—

वरभत्तपाणण्हाणय-सिंगारविलेवणेहिं पुट्ठोवि।
णिअएहुणा विहणंतो सुणहेणवि ण सारिसो देहो ॥

वरभक्तपानस्नानकशृंगारविलेपनैः पुष्टोपि।
निजप्रभुणा विघटमानः शुनकेनापि न सदृशो देहः

अर्थात्—इस शरीरको अच्छे अच्छे भोजन-पानसे पुष्ट किया जाता है, निल्हा-धुला कर साफ रक्खा जाता है, खूब वस्त्रा-भूषणों और विलेपनोंसे सिंगारा जाता है; परन्तु जब इसे पुष्ट करनेवाला इसका स्वामी इसे छोड़ कर जाने लगता है तब यह उसका इतना भी साथ नहीं देता जितना कि एक कुत्ता अपने मालिकका साथ देता है।

विवेचन—कुछ कुत्ते ऐसे कृतज्ञ होते हैं कि वे अपने मालिककी रक्षाके लिए अपने प्राणोंको अर्पण कर देते हैं। इसी प्रकार शरीर यदि अपने स्वामीके कुछ काम आवे—उसे अपनी स्थिति प्राप्त करनेमें सहायता पहुँचावे—तब तो उसे इस प्रकार खिला-पिला कर पुष्ट करना भी अच्छा है। अन्यथा यह सब व्यर्थ है; क्योंकि वह तो इतना अकृतज्ञ है कि दिनरात उसके साथ अच्छा वर्ताव करते रहने पर भी इसके साथ नहीं जाता। मतलब यह कि तुम्हें शरीरके द्वारा परमार्थ साधन करना चाहिए, केवल खिला-पिला कर पोषते रहनेसे कुछ लाभ नहीं है।

* * * * *

धन दुःखोंका देनेवाला है—

कट्ठाइकडुअं बहुआ जं धणमाविज्जं तए जीव।
कट्ठाइं तज्ज दाऊ तं अंते गहिअमण्णेहिं ॥ १८ ॥

कष्टादिकुटुकं बहुधा यद्धनमर्जितं त्वया जीव।
कष्टानि तुभ्यं दत्वा तदन्ते गृहीतमन्येन ॥

अर्थात्—हे जीव, तूने जो नाना प्रकारके कष्टोंको सह कर बड़ी कठिनतासे धन पैदा किया उसने तुझे तो कष्ट ही पहुँचाया और अन्तमें उसका स्वामी कोई दूसरा ही बन गया।

विवेचन—मनुष्य समझता है धनके द्वारा मुझे सुख प्राप्त होगा और इसी लिए फिर वह धन प्राप्त करनेके लिए न सहने योग्य कष्टोंको सहकर—दुखोंकी मारसे जर्जरित होकर भी—धन कमाता है; परन्तु अत्यन्त दुःख है कि उसकी जो तृष्णा अधिक अधिक बढ़ती जाती है, उससे वह उस धनका भी सुख नहीं भोग पाता—तृष्णाके कारण, उस धनके द्वारा जितना उसे आराम मिलना चाहिए उसकी ओर भी उसका उपयोग नहीं रहता। सुन्दर महलमें निवास करनेवाले राजाको सब प्रकारके सुख-साधन प्राप्त

होने पर भी उसे कोई चिन्ता लग जाती है, तो वह उसकी ज्वालासे दिनरात झुलसा करता है और कष्टोंको भोगा करता है। वे सुख-साधन उसके कुछ भी काम नहीं आते। यहाँ तक कि उसका उपयोग भी उस ओर नहीं रहता। ठीक यही हालत इन कष्टोंसे धन कमानेवालोंकी है। कमाये हुए धनको काममें लाते रहने पर भी उनका उपयोग उस ओर नहीं रहता। वे तृष्णाकी ज्वालासे निरंतर दग्ध होते रहते हैं। कारण कि उन्होंने जो कष्टोंको उठा कर भी धन कमाया उससे उनकी तृष्णा ही अधिक बढ़ी। इस लिए कहना चाहिए कि धनमें सुख नहीं, दुःख ही है।

और कितने लोग तो ऐसे हैं कि धनको ही सुख समझ कर फिर उसके ढेर पर ढेर लगाते जाते हैं–थैली पर थैली जमाते जाते हैं। वे नहीं समझते कि धन तो सुखके प्राप्त करानेका साधन है, वह स्वयं सुखरूप नहीं है। जिस प्रकार सुरपा खोआ बनानेका साधन है, वह स्वयं खोआ रूप नहीं है, उसी प्रकार धन भी सुखका साधन है, पर वह स्वयं सुखरूप नहीं है। परन्तु कुछ ऐसे मूर्ख लोग हैं, जो धनको सुख समझते हैं और फिर उसीके बढ़ानेकी चिन्तामें दिनरात लगे रहते हैं। ऐसे ही लोग कंजूस कहे जाते हैं। इनका सारा ही जीवन केवल सुखके साधन पैसे इकट्ठे करनेमें ही बीत जाता है। और अन्तमें बेचारे उस पैसेका कुछ भी सुख न भोग कर वैसे ही चल बसते हैं।

और कुछ लोग ऐसे हैं, जो केवल अपने लड़कों-बच्चोंके लिए ही धन इकट्ठा करते हैं। स्वयं न कुछ खाते हैं, न पीते हैं, न पहरते हैं और न किसी अच्छे काममें पैसा खर्च करते हैं। बाल-बच्चों या कुटुम्बके लोगोंके लिए धन कमा कर खुद कष्ट उठाते हैं और वह धन अन्तमें दूसरोंके हाथ पड़ता है। और दुर्भाग्यसे वे लोग भी, जिनके हाथ कि वह धन पड़ा है, कंजूस हुए तो उसका कुछ उपयोग न कर उसे बाल-बच्चोंके लिए ही

संग्रह करते हैं। जिस संतानके लिए इतना कष्ट सहा जाता है और दुर्भाग्यसे वह कहीं मूर्ख, गँवार और उड़ाऊ निकल गई तो फिर क्या पूछना, उस कष्टसे कमाये बाप-दादोंके धनको बातकी बातमें उड़ा कर सब स्वाहा कर डालती है। और जो धन अच्छी गतिका भी कारण बन सकता था, उसे पापमें लगा कर नर्कोमें जा गिरती है। इस प्रकार धन प्राप्त करनेमें सिवा कष्टके कुछ हाथ नहीं लगता। धन न केवल अपनेहीको कष्टका कारण है, उसकी परम्परा ही कष्टमय है। धन देनेवालेको कष्ट भोगना पड़ता है और लेनेवालेको भी। इस लिए अच्छा तो यही है कि धनका हम स्वयं ही परित्याग कर दें, अन्यथा वह तो हमारा परित्याग करेगा ही। परन्तु इसके पहले, कि वह हमें स्वयं न छोड़ बैठे, यह विचारना चाहिए कि हम प्राप्त किये धनके द्वारा सुख किस प्रकार भोग सकते है और वह हमें न छोड़े उसके पहले ही हम उसे छोड़ सकें।

आज जिसके पास पाँच हजार रुपया है, और वह परिग्रह-परिमाण-व्रत धारण करता है तो पचीस हजार या इससे ज्यादाका परिमाण करेगा, उसकी इच्छा बीस हजार रुपयोंके प्राप्त करनेकी ओर रहेगी। परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है—परिग्रह-परिमाण-व्रत इसे नहीं कहते। परिग्रह-परिमाण-व्रतका स्वरूप तो यह है कि इस समय हमारे पास पाँच हजार रुपया है या इससे कम-ज्यादा है तो हम उसे बढ़ानेकी इच्छा न कर उतनेमें ही सन्तोष कर लें। कल्पना करो कि हमारे पास इस समय पाँच हजार रुपया है, तो हमें उचित है कि हम उतनेहीमें सन्तोष कर उनका उपभोग करें। यदि हम ऐसा कर सकें तब ही उस धनके द्वारा सुख भोग सकते हैं और धन कमाते समय हमने जो कष्ट सहे हैं उनका बदला पा सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त धनमें सन्तोष करनेसे हमारी बढ़ती हुई इच्छाका निरोध हो जायगा और पुण्यके फलसे जो धन लाभ किया है उसका उपभोग करनेसे, हमारे पास जितना कुछ पुण्य-संचय था, वह धीरे धीरे

कम होकर हम अनन्त आत्म-ऋद्धिके पास पहुँच जायँगे। इस कारण धन-प्राप्तिमें कष्टोंके उठानेकी इच्छा न हो तो उसके द्वारा पहले सांसारिक सुख और बाद अव्याहत अनन्त आनन्दका उपभोग करनेके लिए ऊपर बताई हुई युक्तिका उपयोग करो।

यह भी बात सोचनेकी है कि धन किन किन उपायोंसे प्राप्त करना चाहिए, और फिर ऐसा कौन उपाय है, जिससे उस धनके द्वारा हम सुख ही प्राप्त कर सकें। इतना ही नहीं, किन्तु मृत्युके बाद भी वह हमें धन-प्राप्तिका कारण बन जाय और जो उसे ग्रहण करे उसे भी वह सुख ही प्रदान करे।

कल्पना करो, किसी मनुष्यने पाँच हजारका प्रमाण किया और इतना ही रुपया उसके पास है। अब उन रुपयों द्वारा वह जो कुछ व्यापार-धंदा करेगा उससे उसे दिन पर दिन अधिक लाभ होता जायगा। उस समय उसे उचित यह है कि अपने खर्चको छोड़ कर बाकी जितना जितना रुपया बढ़ता जाये उसे वह शुभ कामोंमें खर्च करता जाय और यह इच्छा करता रहे कि मुझे इस समय जो लाभ होता है उससे भी ज्यादा लाभ हो और उसे मैं अच्छे अच्छे पुण्यके कामोंमें खर्च करता रहूँ। ऐसा करनेसे वह अपने पाँच हजार रुपयों द्वारा ही दिनों दिन अनन्त पुण्य बंध करता हुआ इतनी ऋद्धि प्राप्त कर सकेगा कि जिसके द्वारा अन्तमें 'किमिच्छक' दान द्वारा जगत् भरकी दरिद्रताका नाश कर—तीर्थंकर पद प्राप्त कर—अपने आत्म-सुखमें—निजानन्दमें—रमण करने लगेगा। इस प्रकार वह निजके प्रयत्न द्वारा धन प्राप्त कर स्वयं उसे भोगता है, इतना ही नहीं, किन्तु पुण्य द्वारा प्राप्त किये हुए अपने धनको जब दूसरेको प्रदान करता है, तब उसे भी परम्परा पुण्यके कामोंमें लगा कर संसारमें उत्तम कामोंका विस्तार करता है।

वास्तविक सुख तो आत्मामें ही है और इसी लिए तीर्थंकर भगवान सुख आत्मामें ही देख कर पर-वस्तुमें ममत्त्वभावका त्याग करते हैं। वे पुण्यकी

इच्छा नहीं करते; कारण सुख धनमें नहीं है और न धनके द्वारा प्राप्त होनेवाले विषयोंमें ही है। सुख आत्मामें–अपने निज स्वरूपमें–है। यूरोपके तत्त्ववेत्ता ह्यूम कहते हैं–"जिसके परिणाम–भाव–संसारमें गुणोंके ग्रहण करनेकी ओर होते हैं वह मनुष्य-शरीरमें रह कर भी स्वर्गमें है।" उसकका मतलब यह है कि जिसे अपने आत्म-परिणाम सुखरूप भासमान होते हैं, उसे सुखका स्थान अपने आपमें प्रत्यक्ष हो जाता है। वह मनुष्य भवमें रह कर भी मोक्षमें रहनेवाला है। कारण कि उस समय आत्मा यह सोचता है कि जो सुख मुझे इस धनके द्वारा मिलता है, वह तो मुझमें मौजूद है। परन्तु हाँ उस सुखको मेरे अन्य बन्धु आत्मामें नहीं देख सकते और इसी कारण वे सुखका धनमें दर्शन करते हैं। अपने इन बन्धुओंको दुखी देख कर ही वह उन्नत आत्मा उन्हें 'किंचिच्छक' दान देता है और इस प्रकार उनकी दरिद्रताको न केवल देश-निकाला किन्तु संसार-निकाला दे देता है। कारण उसने जो सुख भोगा है, वह इन्द्रकी सम्पत्तिसे भी बढ़ कर है और अब वह उसे अपने अन्य बन्धुओंको देनेके लिए पूर्ण उदार-हृदय है।

इसी भाँति आत्मीय सुख भी द्रव्य-दीक्षा द्वारा आत्माको निर्मल करके केवल ज्ञान प्राप्त करा कर अनन्त सुखकी गहरी खानके स्थान आत्माका साक्षात्कार करा देता है।

आत्म-द्रव्य—अनन्त सुख-द्रव्य—कौन प्रदान कर सकता है, कौन उसका साक्षात्कार करा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जिसके पास वह द्रव्य है और जिसने उसे देखा है वही उसे दे सकता है और वही उसका साक्षात्कार करा सकता है। कारण प्रभु ही अपने पुत्रोंको अपने समान बनाता है।

* * * * *

परिग्रह-प्रमाण न करनेसे हानि ?

जह जह अण्णाणवसा धणधाणपरिग्गहं बहु कुणसि।
तह तह लहु णिमज्जसि भवे भवे भरिअतरिव्व॥ १९॥

यथा यथाऽज्ञानवशो धनधान्यपरिग्रहं बहु करोषि।
तथा तथा लघु निमज्जसि भवे भवे भरिततरीव॥

अर्थात् यह मनुष्य अज्ञानके वश होकर जैसा जैसा धन जोड़ता जाता है, वैसा वैसा वह अधिक भारसे लदी हुई नावकी भाँति भव भवमें डूबता ही जाता है।

विवेचन—इस मनुष्य-देहरूपी जहाजको स्वयंभूरमणके जैसे अनन्त अगाध भवसागरमें डुबा देनेकी इच्छा हो तो वह तुरत डुबा दिया जा सकता है और उसकी रक्षाकी चिन्ता हो तो वह उस भवसागरके किनारे-पर बसे हुए 'सिद्ध' बन्दर नामक स्थान पर भी पहुँचाया जा सकता है। इसके लिए मात्र हमें इतनी सावधानी रखना होगी कि हम उस पर बोझा उतना ही लादें जितना कि वह धारण कर सके। हमारे देहरूपी जहाजके लिए बोझा है परिग्रह। हमें उसका परिमाण अपनी स्थितिके अनुसार ही करना चाहिए। ऐसा करनेसे हमारा यह जहाज बड़ी निर्विघ्नताके साथ भव-सागरको पार कर सकेगा। तुम यह कहो कि, जहाज तो आगकी सहायतासे चलता है। हमारे पास तो आग नहीं है। नहीं, ऐसा नहीं है, जब तुम परिग्रहका परिमाण कर लोगे तो तुम्हारी इच्छाका निरोध हो जायगा और इच्छाका निरोध ही तप है। यह तपरूपी आग तुम्हारे भीतर जलती ही रहेगा। इसके सहारेसे तुम अपना प्राप्य-स्थान शीघ्र लाभ कर सकोगे। इस लिए जैसा कि हम कह आये हैं अपने देहरूपी जहाजको परिग्रहका परिमाण कर उचित—अपनी स्थितिके अनुसार—बोझेसे

लादो। ऐसा करके ही तुम भवसागरके तैरनेकी आशा कर सकते हो। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो समझना चाहिए कि तुम्हारी इच्छा पार होनेकी नहीं, किन्तु बीचहीमें डूब मरनेकी है। क्योंकि परिमाणसे अधिक उस पर बोझा लादनेसे वह अवश्य ही डूब जायगा।

इस भवसागरमें चलनेवाले निगोद, नरक-गति, तिर्यंच-गति, देव-गति और मनुष्य-गति रूप पाँच जहाज हैं। परन्तु पहले चार जहाज तो ऐसे हैं कि उनके लिए रास्तेमें अनेक रुकावटें हैं और वे ऐसी कठिन हैं कि उनका दूर करना सर्वथा असंभव है। उनमें बैठे हुए आत्माको भवसागरके पार करनेका रास्ता ही मालूम नहीं है। इनमें देवगति रूप जो चौथा जहाज है उसमें बैठे हुए आत्माको भवसागरके पार पहुँचनेका रास्ता मालूम है; परन्तु उसके पास व्रत रूपी कर्णधार, जो उसके जहाजको ले जाये, नहीं है और न कभी उसे इसकी प्राप्ति ही होगी। अब रही एक मनुष्य-गति रूपी जहाज सो इसके द्वारा आत्मा भवसमुद्रको अवश्य पार सकता है; क्योंकि उसके जहाजको चलानेवाले व्रत रूपी कर्णधारको वह प्राप्त कर सकता है। सो यदि वह अपने जहाज पर परिग्रह-प्रमाण करके उचित तो बोझा लादे और व्रत रूपी कर्णधारको अपना साथी करे तो निःसन्देह वह भवसमुद्रको—फिर वह चाहे कितना ही बड़ा और कितना ही अथाह हो—बड़ी आसानीसे पार कर लेगा।

इस मानव-देह रूपी जहाज पर धन-धान्य, चाँदी-सोना आदि परिग्रह-रूपी भार विचार-पूर्वक ही लादा जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जायगा और मनमाना भार लाद दिया जायगा तो उसका परिणाम यह होगा कि वह भवसमुद्रके पार करनेमें असमर्थ होकर डूब जायगा। और हमें फिर तिर्यंच-गति रूपी जहाज पर चढ़ना होगा—तिर्यंचगतिमें जाना होगा। और दुर्भाग्यसे वह भी यदि डूब गया तो फिर नारकीय जहाज या निगोद रूपी जहाजमें सवार होना होगा—हम भवसागरके तल पर पहुँच जायँगे। मतलब

यह कि फिर संसारसे छुटकारा पाना अनन्त कालके लिए असंभव हो जायगा। इसके लिए परिग्रहका परिमाण करो जिससे कि भवसागरसे पार होनेकी तुम आशा कर सको।

और देखो, जहाज पर भार लादते समय जब हम यह देख लेते हैं कि भार जहाजके परिमाण-योग्य भरा जा चुका, तब उसी समय फिर भारका लादना रोक देते हैं, इसी प्रकार हमें अपने देह-जहाज पर उतना ही बोझा लादना चाहिए जितना कि वह सह सके। इसके सिवा हमारे पास और कुछ बच रहे तो उसे फलकी इच्छा न करके किसी अच्छे काममें खर्च कर देना चाहिए। तभी हमारा यह देहरूपी जहाज भवसमुद्रके पार करने लायक हो सकेगा। इस प्रकार परिग्रहका परिमाण किये बाद अब उसे आगकी सहायतासे किस प्रकार चलाना चाहिए, जिससे वह शीघ्र चलने लग कर हमें हमारे इच्छित स्थान पर पहुँचा सके। इसके लिए हमें प्रयत्न करना होगा कि हम अपने आत्मामें ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुणोंके देखनेका यत्न करें। हम जैसे जैसे इन्हें देखनेका यत्न करेंगे वैसे वैसे आत्म-ध्यानरूपी आग हमारे भीतर प्रज्वलित होती रहेगी और हमारा देह-जहाज हमारे स्थान-की ओर शीघ्र-गतिसे दौड़ने लगेगा। इस प्रकार धीरे धीरे जहाँ इस आगको शुक्लध्यानका सहारा मिला कि वह एक साथ खूब ही बढ़ जायगी और फिर बातकी बातमें जहाज हमें मोक्ष-स्थानमें पहुँचा देगा। इस लिए अत्यन्त आवश्यक है कि हम परिग्रहका परिमाण करें। और यदि ऐसा न करेंगे तो उसका परिणाम यह होगा कि जहाज पर भार अतिशय अधिक हो जानेके कारण यह स्वयंभूरमणके जैसे अनन्त भव-सागरके तलमें बैठ जायगा। और यदि परिग्रहका अपनी स्थितिके अनु-सार परिमाण कर लेंगे तो आत्म-बलके द्वारा भवसागर पार कर मोक्षमें पहुँच जायँगे। वहाँसे फिर हमें कभी लौटना न पड़ेगा—हम अनन्त काल तक अविनाशी सुखको भोग सकेंगे।

अंके स्थितापि ललना न विकारहेतुः।

अर्थात् गोदमें बैठी हुई स्त्री भी विकारका कारण नहीं होती है। और किसी किसी जगह तो मित्रकी भाँति ज्ञान-चर्चा करनेमें मिलती जाती है।

अमेरिकामें किसी किसीका Literary marriages नामका ब्याह होता है। इस ब्याहको 'ज्ञान-विवाह' कहते हैं। यह विकार-वासनासे रहित होता है। ऐसे लोगोंको इस पुस्तकके लेखकने स्वयं देखा भी है। तब इससे यह सिद्ध है कि स्त्री-पुरुषोंका जो सम्बन्ध है, वह कुछ पशुवृत्तिकी तृप्तिके लिए नहीं है; किन्तु अपनी आत्म-वृत्ति,ज्ञान-वृत्ति और आनन्द-वृत्तिके खिलानेके लिए है। और स्त्रीको पुरुषके जैसा और पुरुषको स्त्रीके जैसा सारे जन्मभरका साथी मिल ही कहाँ सकता है? इस कारण विषय-वृत्तिका परित्याग करके आत्म-वृत्तिमें ही रहनेका प्रयत्न किया जाय तो मन अत्यन्त बलवान हो जायगा। फिर स्वप्नमें भी विकार-वासनायें न होंगी। तब जाग्रत अवस्थाका तो पूछना ही क्या। ब्याहका हेतु विषय-सेवन न होना चाहिए। ऐसे विषय-वासना-रहित विवाह-पद्धतिकी भी आवश्यकता है। दृष्टान्तके रूपमें यह संसारकी बड़ी उपकारक होगी। यह पद्धति उन लोगोंके लिए है, जो पाशविक वृत्ति पर जयलाभ करना चाहते हैं। मनुष्य होने पर भी जो पशुकी भाँति आचरण करनेवाले हैं उन अज्ञानियों—मूर्खों—के लिए यह नहीं है।

सचमुच मनुष्य वही है, जो मनको अपने वश करता है। इन्द्रियोंको वश करनेवाला मनुष्य नहीं कहलाता। वह तो इन्द्रियों पर विजय करनेवाला—पाशविक वृत्तिका विजय करनेवाला—कहलाता है। मनुष्यत्वका लाभ मन पर विजय करनेवालेको ही मिल सकता है। काम-क्रोध-मोह-मान-माया-लोभ आदि मनुष्यत्व प्राप्त होने नहीं देते। इनका मनके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। तब जो मन पर विजयलाभ कर लेगा उसके भीतर फिर इनका उत्पन्न होना भी असंभव हो जायगा। तब ही

कहा जा सकेगा कि मनुष्यत्वकी श्रेष्ठता प्राप्त की गई। और इसी लिए काम-क्रोधादिक पर विजय लाभ कर तीर्थंकर पदको प्राप्त करनेवाला मनुष्य न केवल देव ही है, परंतु देवाधिदेव है। ऐसा ही प्रयत्न सबको करना उचित है।

कामजय करना बड़ा कठिन है। इसके लिए पुरुषोंको स्त्रियोंसे और स्त्रियोंको पुरुषोंसे डरनेको कामजय नहीं कहते और न कामजय स्त्री और पुरुषके परस्पर त्यागसे होता है; किन्तु कामजय काम-वासनाके परित्यागसे होता है। चाहे कैसी ही स्त्री हो या पुरुष, उनमें विषय-विकारोंका इतना दमन हो जाना चाहिए कि पुरुष स्त्रीको माता-बहिन-पुत्रीकी भाँति और स्त्री पुरुषोंको पिता-भाई-पुत्रकी भाँति ही समझने लगें—एक दूसरेकी गोदमें बैठे हों तो भी मनसे किसी प्रकारका विकार न हो। सारी मनुष्य-जातिके सम्बन्धमें इस प्रकारकी पवित्र-उज्ज्वल-वृत्ति होने पर ही मन निर्विकार हो सकता है। यही पवित्र मन फिर आत्मीय ओजसके प्रभावसे अत्यन्त बलवान होकर शरीरको भी सतेज और सबल बना देगा।

स्त्रीके साथ ब्याह करके उसे निराधार छोड़ कर चले जानेको भी कामजय नहीं कहते; यह तो उल्टा कामसे पराजित होना है। ऐसे स्त्रीका त्याग किये हुए पुरुष और पुरुषका त्याग किये हुई स्त्री प्रायः निद्रावस्थामें अपनी प्रतिज्ञाको भूल कर मनकी कमजोरीके कारण पतित हो जाते हैं। और संभव है, वे उस दशामें बलवान भी बने रहें, पर पर-भवमें तो उन्हें अपने ब्रह्मचर्यका स्मरण नहीं रह सकता। इस उत्कृष्ट ब्रह्मचर्यके लिए स्थूलभद्र या विजय सेठ और विजया सेठानीको आदर्श बनाना चाहिए, कि जिन्होंने एक साथ रह कर भी काम-वासना पर अपूर्व विजयलाभ किया। इनकी तरह जो मनुष्य कामजय करता

है विकार-वासनाको जड़से उखाड़ फेंकता है—वही सच्चा ब्रह्मचारी है और वही तीर्थंकर भगवानके पदके योग्य है। वही महान आत्मा अपने आत्मीय ओजसे शरीरको भी इतना सुन्दर और तेजस्वी बना देता है कि उसे देख कर इन्द्रको भी चकित रह जाना पड़ता है। यह तेजस्विता आत्म-स्वरूपके अनुभवसे होती है, बाह्यवृत्तिके आधार पर नहीं; और आत्मिक-वृत्ति तथा स्वरूपानन्दमें लीन होनेकी कारण है। ऐसी स्थितिमें स्त्रीका या पुरुषका त्याग करना हित कर कहा जा सकता है; परन्तु तुरंत ब्याह करके निर्वाहकी योग्यता न होनेसे या किसी अन्य ऐसे ही कारण-वश, परस्परकी संमतिके बिना एक दूसरेको छोड़ देना क्रूरता है—अनुचित है।

यह कह कर, कि स्त्री-बाल-बच्चे या पति-पुत्र अपने अपने कर्मोंके फलको भोगें, घर-बार छोड़ देना उपेक्षा है, सच्चा त्याग नहीं है। वर्तमानमें हमारे यहाँ यही प्रवृत्ति प्रचलित है। लेखक यह नहीं कहता कि यह सर्वथा ही बुरी है। हरिभद्र सूरिने इस विषयका खुलासा किया है, परन्तु वह सुन्दर नहीं है, उत्तम नहीं है। यह ठीक है कि ऐसी वृत्ति किसी किसी मौके पर क्रूरतामें परिगणित नहीं की जा सकती; परन्तु वह निष्ठुरता तो अवश्य है।

परन्तु स्त्री-पुरुष जिस भाँति परस्परकी इच्छासे ब्याह करते हैं, उसी भाँति यदि वे परस्परकी इच्छासे काम-वासनाका त्याग करें अर्थात् पुरुष स्त्रीका त्याग कर 'शिवसुन्दरी' के साथ ब्याह करनेको और स्त्री पतिका त्याग कर 'मोक्षकान्त' के साथ ब्याह करनेको तैयार हो तो अच्छा है। कारण इससे वे—पतिव्रता स्त्री और पत्निव्रती पुरुष—केवल एक दो भव-पर्यन्त ही परस्परके प्रेमी नहीं बन रहते, किन्तु राजीमतीकी भाँति जब तक उन्हें मोक्ष-लाभ न होगा तब तक वे अखण्ड अविचल प्रेमसे आबद्ध रहेंगे।

कामजय इसीको कहते हैं कि भवसागरके पार पहुँचने तक फिर कभी आत्मामें विकार-वासनाका जन्म न हो। संभव है, हम इस समय इस उच्च वृत्तिको धारण न कर सकें; परन्तु तब भी हमारी भावनायें तो उच्च-उच्चतर और उच्चतम ही होनी चाहिएँ। क्योंकि—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है, उसे सिद्धि भी उसीके अनुसार प्राप्त होती है।

* * * *

स्त्रीकी इच्छा रखनेवाले क्या मनको वश कर सकते हैं?—

अहिलहसि चित्तसुद्धिं रज्जसि महिलासु अहह मूढत्तं।
नीलिमिलिये वत्थंमि धवलिमा किं चिरं ठाई॥ २१॥

अभिलषसि चित्तशुद्धिं रज्यसि महिलासु अहह मूढत्वं।
नीलिमिलिते वस्त्रे धवलिमा किं चिरं तिष्ठति॥

अर्थात् हे आत्मन्, यह तेरी बड़ी भारी मूर्खता है, जो तू चित्तकी तो शुद्धि चाहता है और स्त्रियोंकी इच्छा करता है। भला, नीलसे सम्बन्ध हुए वस्त्रकी सफेदी कितनी देर तक टिकी रहेगी?

विवेचन—चित्त-वृत्ति वस्त्रके जैसी सफेद है; परन्तु काम-क्रोधादिके कारण वह मलिन बन रही है। जिस प्रकार सफेद वस्त्रको नीलके रँगसे रँगा जाय तो यह जान पड़ेगा कि उसका पहले जैसा कोई रंग था ही नहीं, उसी प्रकार इस मलिन चित्त-वृत्तिके कारण, यह आत्मा निश्चय-नयसे शुद्ध होने पर भी मलिन दिखाई पड़ता है—भासमान होता है। परन्तु वास्तवमें तो वह स्फटिकके जैसा निर्मल है—अरूपी है। अर्थात् चित्तवृत्तिके स्वच्छ—निर्मल—होने पर भी वह अपना स्वरूप कभी नहीं छोड़ता। तो भी इस स्वरूपका निरंतर आनन्द तब ही अनुभव किया जा सकता है, जब कि

चित्त-वृत्ति शुद्ध हो—स्फटिकके जैसी निर्मल हो। इस लिए चित्त-वृत्तिको मलिन करनेवाली स्त्रीका सर्वथा त्याग करना ही उचित है, जिससे आत्माके परिणाम मलिन न हों। जिस प्रकार भाँग जड़ होने पर भी बुद्धिमें भ्रम पैदा कर देती है, उसी प्रकार चित्त-वृत्ति भी यद्यपि जड़ है, तो भी आत्माके परिणामोंको बिगाड़ देती है। नशा भाँग पीनेसे भी चढ़ता है, पर स्त्रीका नशा उस नशेसे बड़ा भयंकर है। वह मनुष्योंको पागल कर देता है—सब सुध-बुध भुला देता है। इस लिए आत्महित चाहनेवालोंको स्त्रीका त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु हाँ देखो, स्त्रीका त्याग करके भी यदि तुम काम-वासनाको न त्याग सके, तो तुम्हें इस त्यागसे कुछ लाभ न होगा। क्योंकि ऐसी हालतमें तुम जब कभी भी किसी स्त्रीको देख पाओगे कि तुरंत तुम्हारे भीतर सोई हुई वासना जाग उठेगी। संभव है, तुम स्त्री मात्रका ही त्याग करके जंगलमें चले जाकर रहने लगो। परन्तु यदि तुमने काम-वासनाको नहीं जीत लिया है, तो वहाँ रह कर भी कुछ लाभ नहीं उठा सकते। कारण, संभव है, कभी संयोग-वश पशु-पक्षियोंकी रति-क्रीड़ा तुम्हारी नजर पड़ जाय और तुम्हारी निश्चेष्ट काम-वृत्ति जागृत हो जाय। यह भी संभव है कि ऐसा संयोग ही न मिले, इसके लिए तुम गुफाओंमें रहने लगो; परन्तु वहाँ भी तुम्हारे मनकी कमजोरीके कारण, स्वप्नमें स्त्रीके दर्शनसे तुम्हारी शिथिल काम-वृत्तिका सचेत हो उठना संभव है। इसके लिए कोई ऐसे सीधे सरल उपायके सोचनेकी आवश्यकता है, जिससे पहले अपनी स्त्रीका और बादमें स्त्री-मात्रका तथा पशु-पक्षिणियोंका त्याग किया जा सके। यहाँ तक कि इनको स्वप्नमें देख कर भी काम-वासना उत्पन्न न हो। इसकी कुछ अनुभव की हुई युक्ति नीचे लिखी जाती है; उसका, अपनी स्थितिको देख कर या गुरु जैसी आज्ञा दें उसके अनुसार उपयोग करना उचित है। अन्यथा मनमाना उपयोग करनेसे अनर्थके होनेकी

संभावना है। यदि तुम अपनी स्थितिका विचार करके या गुरुकी आज्ञाके अनुसार उसका उपयोग करोगे तो बेचारे काम-मृगकी क्या हिम्मत जो वह तुम्हारे आत्म-केसरीका सामना कर सके। देखो, देवी अनसूयाको देख कर कामको कैसी नानी-दादी याद आ जाती है! स्थूलभद्रसे वह कितना दूर भागता है! विजय सेठ और विजया सेठानीसे उसकी आत्मा कैसी काँपती रहती है! सुदर्शनने किस वीरतासे उस पर विजय किया! परन्तु इनमें महात्मा स्थूलभद्रने जिस प्रकार गुरुकी आज्ञाका पालन किया था, उसी प्रकार अनुसरण कर तुम्हें अपनी परीक्षा करनी चाहिए या अपनी स्थितिकी थाह लेनी चाहिए।

निकृष्ट काम-वासना जो जागृत होती है वह स्त्रीमें स्त्रीत्व बुद्धिके होने पर होती है; परन्तु माता-बहिन-पुत्री आदि भी स्त्रियाँ हैं, उन्हें देख कर काम-वासना जागृत नहीं होती; किन्तु हर समय स्त्री-मात्रकी माता-बहिन-पुत्रीकी भावनासे देखने पर उल्टी वासना संकुचित-निस्तेज-रूक्ष होती हुई जान पड़ती है। इस लिए स्त्री-मात्रको देख कर—फिर वह अपनी माता-बहिन-पुत्री हो या दूसरेकी माता-बहिन-पुत्री हो या पशु-पक्षिणी ही—यह भावना करनी चाहिए कि वे मेरी ही माता-बहिन-पुत्री हैं। क्योंकि सब ही जीव सभी पर्यायोंको धारण कर चुके हैं, करते हैं और करेंगे। इस भावनाको क्रमशः बढ़ाते जाना चाहिए। पहले स्त्री-मात्रमें भगिनीपनेकी कल्पना करनी चाहिए, बाद पुत्रीकी और अन्तमें माताकी कल्पना। स्त्री-मात्रके हमें पुत्रकी तरह ही नहीं; किन्तु पुत्र ही बन जाना चाहिए। फिर देखो कि कैसा आनन्द आता है! सारे संसारकी स्त्रियाँ मेरी मातायें और उनका एक मात्र 'मैं' पुत्र! अहा, कितना मातृस्नेह! कितना मातृ-धर्मका पालन! लेखकको ऐसा जान पड़ा कि मानों चौरासी लाख जातिके असंख्य जीवोंने ही मातृरूप धारण किया है और उनके एक मात्र

पुत्रके जितना उसे मातृ-प्रेम—वात्सल्य—का आनन्द मिल रहा है। मानों *जीव मात्र उसकी मातायें हैं और यह उनकी गोदीमें खेल रहा है।* ऐसी भावनाओंसे काम-वासना जल कर खाक हो जाती है। इसके बाद जो *काम वासनाकी राख—अंग-रहित कामकी राख—बच रहे उसे भी उड़ा देनी* चाहिए; यह भी एक फूँक मात्रमें—एक हवाके झकोरेमें। इतना करने पर *काम-वासनाका चिह्न तो क्या, पर उसका नामो निशान भी न रहेगा।* प्रभुने अठारह दोषोंको नष्ट किया है और उससे उनमें अनन्त गुण प्रगट हुए हैं। उन दोषोंमें काम भी एक दोष है। *यह निश्चय है कि फिर इस* दोषका नाम भी नहीं रहता; ऐसा करनेके लिए उपाय यह है।

देखो, जीव जिस सुखकी स्त्री-संगमें कल्पना करता है, वह सुख उसमें न होकर स्वयं जीवहीमें विद्यमान है। परन्तु उसकी कल्पना मात्र स्त्रीमें होनेके कारण मन यह समझता है कि सुख स्त्रीमें है और इसी लिए वह फिर अपनेमें काम-वासनाको उत्पन्न करता है। वह जिस स्त्रीमें सुखकी कल्पना कर कामको उत्पन्न करता है, परन्तु उसमें सुख न होनेके कारण मात्र कल्पना करके ही दुःख उठाता है। इस कल्पना-को छोड़ कर यदि वह सच्चे सुखके स्थान आत्माकी ओर दृष्टि करे तो उसे जान पड़ेगा कि स्त्री-संगमें जो सुख है, उस सुखसे अनन्त गुणा सुख उसके आत्मामें है, और वह प्रत्यक्ष हो सकता है। कस्तूरी रहती है कस्तूरी मृगकी नाभिहीमें; परन्तु उसकी सुगंध जो बाहर फैलती रहती है उससे मृग समझता है कि वह सुगंध कहीं दूसरी जगहसे आ रही है और इस लिए फिर वह इधर उधर दौड़ता फिरता है। परन्तु यदि वह यह समझ जाये कि कस्तूरी कहीं बाहर न होकर मेरे भीतर ही है तो उसे फिर दौड़नेका कष्ट न उठाना पड़े। ठीक यही हालत इस जीवकी है, जो यह अपने भीतर रहनेवाले अव्याबाध आत्मीय सुखको छोड़ कर उसके लिए स्त्रियोंकी ओर दौड़ लगाता है; परन्तु यदि यह समझ

जाये कि सुख नाभिमें रहनेवाली कस्तूरीकी भाँति मेरे भीतर ही है—बाहर कहीं नहीं है—और उसीका अनन्त आनन्द अनुभव करने लगे तो इसे फिर काम-वासनाकी बची-खुची मसमका भी कुछ कष्ट न उठाना पड़े और यह बातकी बातमें उड़ जाय। तुम यह कहोगे कि स्त्रीमें स्त्री-बुद्धिका होना यह कल्पना कैसी ? यह तो बिलकुल ठीक बात है। परन्तु लेखक कहता है *कि यह कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं है।* भला, एक कागजके छोटेसे टुकड़ेको दस, पचास, सौ या हजार रुपया कहना यह कल्पना नहीं तो और क्या है ? यदि हम सब लोग मिल कर आजसे यह *निश्चय कर लें कि अब तक जो हम एक कागजके टुकड़ेमें रुपयोंकी* कल्पना करते थे वह अबसे ठीक न मानी जायगी, तो फिर जिसे हम रुपया समझ कर काममें लाते थे, वह अब केवल कागजका टुकड़ा न रह जायगा ? अब क्या कोई उसे लेकर पहलेकी भाँति हमें रुपया दे सकेगा ? नहीं। इसी प्रकार हम जो यह कहते हैं कि यह स्त्री है, यह भी तो कल्पना ही है; और इसी कल्पनाके कारण ही काम-वासना पैदा होती है और अनर्थ करनेके लिए मनको कलुषित करती है। इस लिए उचित यह है कि इस झूठी कल्पनाहीको छोड़ दिया जाय। रुपये नोटमें नहीं हैं, हुंडीमें नहीं है, और न कागजके एक टुकड़ेमें हैं; किन्तु मनुष्यकी मेहनतमें हैं अर्थात् अपने आपहीमें हैं। इसी प्रकार सुख स्त्रीमें नहीं है, किन्तु अपनेहीमें है और वह अनन्त है। संसारमें तो मात्र उसकी कल्पना की जाती है।

इस जगह कोई यह कहे कि जिस प्रकार तुम स्त्रीको एक कल्पना मात्र कहते हो उसी प्रकार तुम्हारी भी तो यह कल्पना ही है कि स्त्री मा-*त्रको माता-बहिन आदि समझना चाहिए।* इस पर लेखकका कहना है, कि यह सच है और तुम चाहो तो इस कल्पनाको भी छोड़ सकते हो। इस कल्पनाके त्यागसे मातृरूप साकार प्रेम नष्ट हो जायगा,

पर तुम्हारा निराकार प्रेम बना रहेगा। जो इस प्रेमके साथ समभाव हो—इसकी कल्पना रह कर भी शुभ राग तक न हो—और कोई प्रकारका द्वेष न हो तो चित्त स्फटिकके जैसा निर्मल होकर आत्म-स्वरूपमें अनन्त आनन्दके दर्शन कर सकेगा, और तुम्हें ऐसा जान पड़ेगा कि मानों हम अनन्त अपार आनन्दके सुधा-सागरमें गोता लगा रहे हैं। अनन्त ज्ञानादिक भी इसी आत्मामें होनेके कारण वे भी तुम्हें प्रत्यक्ष हो सकेंगे। श्रीमद् आनन्दघन कहते हैं—

" केवल-कमला-अपसर सुन्दर गान करे रस-रंग भरीरी "

इस लिए स्त्रीका त्याग करते समय काम-वासनाका त्याग करना चाहिए। और बाद उसके निशानका—अनंगका तथा उसकी भस्म तकका—त्याग करके—उसे उड़ा करके—निजानन्दमें आना उचित है। ऐसा करनेसे एक यह लाभ होगा कि जिसे तुमने अपनी स्त्रीके रूपमें कल्पना किया था, वह बेचारी भी अपने दोषका परित्याग कर तुम्हारे अनन्त आनन्दके समागमसे पवित्र-हृदय होकर राजीमतीकी भाँति मोक्षानन्दमें मिल जायगी। मत समझो कि इस प्रकारके स्त्रीके सहवाससे तुम्हारी उज्ज्वलता नष्ट हो जायगी; परन्तु स्त्रीका वह नीलके जैसा रंग भी उल्टा उज्ज्वल हो जायगा और इस प्रकार वह भी अपना कल्याण कर सकेगी।

इस प्रकार चित्तकी कल्पना या पागलपन जहाँ नष्ट हुआ कि फिर राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते तब रागकी अरुणिमा और द्वेषकी कालिमा उस पवित्र आत्मा पर कैसे लग सकती है।

हाँ यह ठीक है कि दूसरी वस्तुओंके संसर्गसे स्फटिकमें दूसरे दूसरे रंगका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है; परन्तु फिर भी स्फटिक तो उज्ज्वल ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा, पहली स्थितिकी भाँति दूसरोंको शुद्ध नहीं बना सके तो भी यह कभी संभव नहीं कि वह स्फटिकके जैसे निर्मल

अपने चित्तको मलिन बना डाले। समझो कि तुम्हें नहीं, तुम्हारी स्त्रीको कभी काम-वासना सताये तो तुम्हें उचित है तुम उसके नील जैसे आत्माको निजानन्दके अनुभवमें लगा कर राजीमतीकी भाँति शुद्ध चित्तकी धारक बना दो।

इस प्रकार सब सुखोंका भंडार स्वयं आत्मा ही है, परन्तु भ्रमसे—अज्ञानसे—मोहसे—वह समझता है सुख कहीं अन्यत्र है। सूर्य अपनेको छोड़ कर प्रकाशको कहीं अन्यत्र ढूँढ़े, क्षीरसागर क्षीरकी—दूधकी—इच्छासे जलको ढूँढ़ना चाहे या बादलोंकी ओर देखना चाहे, तो यह उनका यत्न व्यर्थ है। प्रकाश सूर्यको छोड़ कर कहीं नहीं रहता, क्षीर क्षीरसागरके सिवा कहीं नहीं मिल सकता। इसी प्रकार लोग सुखको स्त्रियोंमें ढूँढ़ना चाहते हैं; परन्तु यह उनकी भूल है। सुख स्त्रियोंमें नहीं है; किन्तु उन्हींमें है। यदि वे जरा ही प्रयत्न कर उसे अपने भीतर ढूँढ़ने लगें तो अनन्त अपार महासागरके जितना सुख उन्हें अपने आपहीमें मिल जाय। और जिस प्रकार केसरीने जहाँ नींदसे उठते ही जरासी गर्जनाकी कि उस पर दौड़ते हुए चूहे उसी समय नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं, उसी प्रकार जब आनन्दघनमय आत्मा स्वयं जागृत होता है तब कामरूपी चूहे बातकी बातमें भाग छूटते हैं, फिर बेचारी स्त्रियाँ कर ही क्या सकती हैं? मुनि आनन्दघनजी महाराजने ठीक लिखा है कि—

आनँदघन प्रभु घट-वन-केहरि काम-मतंग-गज-गंजनः।

अर्थात् यह आनंदघन प्रभु—आत्मा हृदयरूपी वनमें रहनेवाला केसरी है। वह कामरूपी मस्त हाथीको क्षण भरमें मार कर चकनाचूर कर डालता है।

कुटुम्बका मोह छोड़ने योग्य है।

मोहेण भवदुरिए बंधि खित्तोसि णेहणिगडेहिं।
बंधमिसेण मुक्का परिहरिआ तेसु को राओ ॥ २२॥

मोहेन भवदुरिते बध्वा क्षिप्तोसि स्नेहनिगडैः।
बान्धवमिषेण मुक्ता प्रहरिकास्तेषु को रागः॥

अर्थात् हे आत्मन्, मोहने तुझे स्नेह-रूप बेड़िया पहना कर संसार-रूपी कैदखानेमें डाल रक्खा है और बन्धुओंके बहाने माता-पिता-भाई आदिको तेरे पहरेदार नियुक्त कर रक्खा है। अब तू ही बतला कि तेरा इन पर राग-स्नेह-करना कहाँ तक उचित है?

विवेचन—सचमुच संसारके सब जीवोंने मोह राजाकी चोरी की है। इस चोरीसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवता आदि कोई नहीं बच पाये हैं। संसारकी सब ही वस्तुयें जड़ हैं। यह कलम काठकी है, तो भी हम कहते हैं हमारी है; यह कड़ा सोनेका है तो भी हम कहते हैं हमारा है। इस प्रकार दूसरेकी वस्तुको अपनी बता कर उसका स्वामी बनना, चोरी नहीं तो क्या है? और इसी चोरीके कारण ही मोहने सब संसारी जीवोंको कैदखानेमें डाल रक्खा है। वहाँ उनके योग्य छोटी-बड़ी बेड़ियाँ उनके नाना प्रकारके शरीर हैं, कम या ज्यादा उम्र उनके कैदकी मुद्दत है, और स्त्री-पुत्र, माता-पिता, भाई-बन्धु आदि उन्हें बाँध रखनेवाले पहरेदार और जेलर हैं। मोहने इनका ऐसा कड़ा प्रबन्ध कर रक्खा है कि कोई इनके हाथसे कभी खिसकने नहीं पाता।

इन बन्धनोंका इतना भय है कि उसके मारे मनुष्य थोड़े भी समयके लिए कहीं अन्य गाँव जाना चाहे तो नहीं जा सकता। आश्चर्य है, कि इतना होने पर भी यह जीव बन्धु-बान्धवोंसे स्नेह करता है। इस लिए

उचित तो यह है कि दूसरोंकी वस्तुओंकी जो इसने चोरी की है उसे कुबूल कर आगामी न करनेका यह मोह राजाको विश्वास करा दे, जिससे वह बेड़ियाँ खोल कर इसे छोड़दे। और अबसे इसे इन वन्धु-बान्धवोंको अपना न समझ कर मोह-नृपतिके दास समझना चाहिए। क्योंकि एक पुद्गलके ढेरके जैसे मनुष्यमें माता-पिता, भाई-बहिन आदिकी कल्पनाका जाल फैला कर ये उसके बन्धु-बान्धव बन गये हैं। इस लिए जहाँ इस कल्पनाका त्याग किया कि उसी समय राग-भाव नष्ट हो जायँगे और आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर रह कर, इस संसार-रूपी कैदखानेमेंसे निकल मोक्ष नगरमें पहुँच जायगा। वहाँ इसके लिए आनन्द ही आनन्द है—दुःख-क्लेशका फिर इसे नाम भी सुनाई न पड़ेगा।

ऐसा जान पड़ता कि मोहने इस संसार-रूपी विशाल कैदखानेमें चार प्रकारके कैदखाने बनाये हैं। नारकीयोंके लिए इसने संसार-कारागृहके भौंयरोंमें व्यवस्था की है। वहाँ उन्हें यह सदा असह्य कष्ट देता रहता है। तिर्यंचोंसे यह सख्त मजूरीका काम लेता है। मनुष्योंके लिए इसने नारक और तिर्यंचोंकी अपेक्षा कुछ रियायत कर रक्खी है, इसी लिए यह इनसे वही काम लेता है, जिसे ये सहन कर सकें। देवोंको मनुष्योंसे और भी अधिक इसने सुभीता कर दिया है। वे राजाओंकी भाँति नजर-कैद हैं। इस प्रकार सभी जीवोंको मोहने कैदमें पूर रक्खा है। उनके बाहर यह उन्हें नहीं निकलने देता। अर्थात् मोक्ष नहीं जाने देता। क्योंकि बन्धु-बान्धव-रूपी पहरेदार तो रात दिन उसके चारों ओर पहरा देते हुए खड़े रहते हैं।

इन चारों कैदखानोंमें नारक-तिर्यंच-देव-रूपी तीन कैदखाने तो ऐसे हैं कि वे सब ओरसे बन्द हैं। उनसे निकल कर कोई बाहर—मोक्षमें—कभी नहीं जा सकता। रहा मनुष्य-जन्म-रूप कैदखाना, सो हाँ, इसमें अवश्य दरवाजा है, जिसकी कि सहायतासे विशाल संसार-रूप कैदखानेसे निकल

कर जीव मोक्ष-नगरमें पहुँच सकते हैं। जान पड़ता है इस कैदखानेमें भी चार प्रकारकी व्यवस्था की गई है। कुछ लोग तो पर वस्तुओंमें ममत्वके कारण आर्तध्यान कर इसमें नारकीयोंकी भाँति दुःख ही दुःख भोगते हुए दिखाई पड़ते हैं। कुछ पर-वस्तुओंमें मोह-वश रौद्रध्यान करके मनुष्य होने पर भी पशुओंकी भाँति इन्द्रियोंके गुलाम बन कर सख्त मजूरीकी सजा भोगते हैं और मोहके इशारे पर नाच नाचते हुए दुःखी देख पड़ते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो मन और इन्द्रियोंको वश करते हैं, धर्मध्यान करते हैं, वे सादी कैद भोगते हुए जान पड़ते हैं। और मन और इन्द्रिय दोनोंको वश करनेवाले साधु-महात्मा, योगी-मुनि, मोहकी नजरकैदमें बन्द हैं। परन्तु एक केवली भगवान या तीर्थंकर देव ही ऐसे हैं जो पर-वस्तु-जन्य राग-द्वेषको पूर्णपने नष्ट कर, इस संसार-कारागृहसे मुक्ति लाभ कर मोक्ष-नगरमें–स्वानन्दमें–अपूर्व स्वतंत्रताके साथ रहते हैं–मजा सत्ताकराज्यका पूर्ण सुख भोगते हैं।

मध्यम श्रेणीके जीवोंके लिए उपाय।

मनुष्य-जन्ममें दुःखोंको छोड़नेका यत्न करना ठीक है, परन्तु इसके लिए बन्धु-बान्धवोंमें होनेवाले राग-भावको पहले छोड़ना चाहिए। क्योंकि जब तक 'राग-भाव न छूटेगा तब तक तुम चाहे भले ही संसारसे दूर हो जाओ; परन्तु उस हालतमें भी मोह कुछ तुम्हारा पिण्ड थोड़े ही छोड़ देगा। यहाँ जैसा तुम्हारा राग-भाव पितामें था वहाँ मोह गुरुमें राग-भाव करायगा, माईका राग-भाव गुरु-माईमें करायगा, पुत्रका राग-भाव शिष्यमें करायगा और कुटुम्बका राग-भाव मुनिसंघमें करायगा। हाँ यह ठीक है कि, श्रावकसंघमें जो गृहस्थ रहते हैं उनकी अपेक्षा साधुसंघमें कम राग-भाव रहेगा; और इसी तरह पिताकी अपेक्षा गुरुमें, माईकी अपेक्षा गुरु-माईमें और पुत्रकी अपेक्षा शिष्यमें कम राग-भाव रहेगा। जो कुछ हो, है यह

भी राग-भाव ही, और जब तक इसे न छोड़ सको तब तक भूल कर भी न समझो कि मोह तुम्हें संसार-कारागृहसे मुक्त कर देगा। इस लिए हर प्रयत्न द्वारा राग-भावका समूल नाश करना ही कल्याणकारी है।

हम लोग जिस प्रकार यह कह कर, कि यह धन हमारा है,धन पर राग-भाव करते हैं और उसे दूसरोंको नहीं लेने देते उसी प्रकार हमारे बहुतसे साधु लोग भी अपनी पुस्तकें आदिमें राग-भाव करते हैं और उन्हें अपनी मान कर—यहाँ तक कि उन पर अपना नाम लिख कर—मोह-वश उनको दूसरोंके लिए नहीं देते। हाँ यह ठीक है कि जितना राग एक श्रावकका धनमें होता है, उसकी अपेक्षा साधुओंका पुस्तकोंमें थोड़ा राग होता है। इसी प्रकार श्रावकोंका जैसा अपने घरमें मोह होता है वैसा साधुओंका उपाश्रयमें होता है। हम लोग दूसरोंको जिस प्रकार अपने घरमें उतरने नहीं देते उसी प्रकार साधु भी अपने कल्पना किये हुए उपाश्रय-गृहमें अन्य साधुओंको उतरने या आने नहीं देते हैं। यह ठीक है कि श्रावकोंके रागकी अपेक्षा साधुओंका राग कम है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि साधुओंमें राग होता ही नहीं। और यह भी निश्चय है कि जब तक पर वस्तुमें थोड़ा भी राग है तब तक मोह संसार-कारागृहमेंसे साधुओंको भी नहीं छोड़ सकता। यहाँ तक कि साधुओंको वस्त्रके सफेद और पीलेपनमें भी जब तक राग होगा तब तक वे मेरु पर्वतके जितना ढेरका ढेर चारित्र भी क्यों न पालन करें, उन्हें कभी सिद्धि नहीं होगी—मोह उन्हें कभी संसार-कारागृहसे मुक्त न करेगा। इस लिए कुटुम्ब—स्वजन—और स्वसंघका त्याग करनेवालेकी अपेक्षा जो मध्यम श्रेणीके लोग हैं—फिर वे चाहे साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका कोई भी क्यों न हों—उन्हें राग-भावके छोड़नेकी नीचे लिखी युक्ति काममें लानी चाहिए। ऐसा करनेसे मोह निमिष मात्रमें ही उन्हें छोड़ कर चलता बनेगा। वह युक्ति

सोचना चाहिए कि चौरासी लाख जातिके सब ही जीव अनन्त बार हमारे बन्धु या स्वजन हो गये हैं और ये ही जीव पर जन ' या शत्रु भी हो चुके हैं। इस लिए स्वजन और पर जन इन दोनों शब्दोंमेंसे 'स्व' और 'पर' को निकाल कर यह समझना चाहिए कि सब ही जीव एकसे हैं। इसके बाद जिसे वे शत्रु या मित्र कहते थे, बन्धु या दुश्मन समझते थे उस सब कल्पनाको नष्ट कर सबमें समान भावकी भावना रखनी चाहिए। इससे संसारके जीव मात्र हमारे मित्र बन जायँगे।

इस प्रकार सबके साथ मित्रता होने पर सबहीमें हमारा राग-भाव हो जायगा; परन्तु यह राग 'सम-राग' के रूपमें होगा। अब याद रखना चाहिए कि हमारी सब जीवोंके साथ मित्रता है—परन्तु पुद्गलके साथ नहीं। और इसी कारण दुखी जीवोंको और स्वयं अपनेको दुखी देख कर हमें करुणा आयगी। जहाँ करुणा उत्पन्न हुई कि उन जीवोंका और हमारा दुःख नष्ट हो जायगा। अर्थात् हमारे अनादि कालके अशुभ कर्म नष्ट होंगे। और सुखी जीवोंको देख कर सुख होगा अर्थात् अनादि कालसे जो हमने शुभ कर्म किये हैं, उनका फल भी हम भोग चुकेंगे। मतलब यह कि शुभ-अशुभ कर्म अपना अपना फल देकर नष्ट हो जायँगे। यह जो सुख-दुःख होते थे वे कर्मोंके कारण या पर वस्तुमें मोहके कारणसे होते थे; पर अब पर-भावके नष्ट हो जानेसे चित्तको आत्म-स्वभावमें लीन होनेका मौका मिलेगा और अब तक जो राग पर-वस्तुओंमें होता था वह अब आत्म-ध्यानाग्निमें भस्म होकर, वीतराग होकर, आनन्दसे निज स्वरूपमें मिल आयगा। इस लिए मध्यम श्रेणीके जीवोंको इस उपायका उपयोग करना चाहिए; और जो बालक श्रेणीके जीव है उन्हें मध्यम श्रेणीके जीव बननेका यत्न करना चाहिए; और इस प्रकार वे भी जब मध्यम श्रेणीमें आ जायँ तब उन्हें भी यही उपाय काममें लाना चाहिए।

उत्तम श्रेणीके जीवोंको अपने सम्बन्धियोंका कैसे त्याग करना चाहिए ?—

उत्तम श्रेणीके जीवोंको विचारना चाहिए कि हमें राग–मित्रता–उसके साथ करनी चाहिए कि जो हमारा साथ न छोड़े। इस पर दृष्टि देनेसे उन्हें जान पड़ेगा कि संसारकी सब वस्तुओंमें किसीने उनका साथ नहीं दिया–सबने उनको छोड़ दिया; परन्तु हाँ एक चैतन्य ही ऐसा है, जिसने कभी उनका साथ न छोड़ा—वह निरंतर उनके साथ ही रहता चला आया है। अनन्त काल बीत गया, अनन्त जन्म बीत गये तब भी वह साथका साथ ही है। तब उन्हें उचित होगा कि वे सबसे पहले मित्रता इसीके साथ करके—आत्मामें ही राग करके—देखें कि उन्हें सुख होता है या दुःख ? पौद्गलिक वस्तुओं परसे राग नष्ट होकर भी शुभ-अशुभ कर्मों पर बना रहता है, इस लिए कर्म-भावको भी छोड़ कर चित्तको विशुद्ध चैतन्य स्वभावमें—ध्यानाग्निमें—लगाओ, तो राग जल कर खाक हो जायगा और तुम स्वभाव—सम-भाव–लाभ कर अपने आत्मीय आनन्दमें मिल जाओगे।

जिस प्रकार कमल जलमें रहता है, परंतु उसका चित्त जो चन्द्रमाँमें लगा रहता है उससे वह जलका स्पर्श भी नहीं करता; उसी प्रकार यह ज्ञानी अन्तरात्मा यदि परमात्म-रूप पूर्ण चंद्रमाँमें स्थिर दृष्टि रख कर संसार-जलका अपनेसे स्पर्श न होने दे तो उसके सूर्यके जैसे प्रकाशमान ज्ञानको रागके घने बादल या द्वेष रूपी अन्धकार कभी बाधा नहीं पहुँचा सकते। उसका ज्ञान फिर पूर्ण रूपसे प्रकाशमान हो जाता है। उसे कोई प्रकारका सुख-दुःख न होकर पूर्ण आनन्द प्राप्त हो जाता है। फिर वह स्वयं अपनेमें आनन्दका अनुभव करने लगता है।

देखो कि तुम्हारा अन्तरंग कुटुम्ब कैसा है ?—

धम्मो जणओ करुणा माया भाया विवेयनामेण ।
खंति पिआ सुपुत्ता गुणो कुटुवं इमं कुणसु ॥ २२ ॥

धर्मो जनकः करुणा माता भ्राता विवेकनामा ।
क्षान्तिः प्रिया सुपुत्रा गुणाः कुटुम्बमिमं कुरु ॥

अर्थात हे आत्मन्, धर्म तेरा पिता है, करुणा माता है, विवेक भाई है, क्षमा स्त्री है, और दर्शन ज्ञान-चारित्रादि गुण सुशील पुत्र हैं । तब इन्हींको तू अपना कुटुम्ब क्यों नहीं बनाता ।

विवेचन—ये माता-पिता, भाई-बन्धु आदि संसारी कुटुंबी जन जीवको बन्धनमें डाल कर, कैदखानेमें कैद कर उससे सख्त मेहनत-मजूरी कराते हैं । और आन्तरङ्गिक कुटुम्बी जन—धर्म-करुणा-विवेक-क्षमा-दर्शन-ज्ञान आदि—उसे आनन्द प्रदान करते हैं जिसका कि वह अनन्त काल तक उपभोग करता है अर्थात् इन गुणोंके द्वारा जीव मोक्ष-लाभ करता है । इस लिए कहना चाहिए कि उसके सच्चे बन्धु तो दर्शन-ज्ञान आदि ही हैं । इसके सिवा सांसारिक कुटुम्बको चाहे जीव न भी छोड़ना चाहे; परन्तु वे तो इसे अवश्य ही छोड़ कर चले जाते हैं और अन्तरंग-कुटुम्बके लोग अनन्त काल तक उसके साथ रहनेवाले हैं, इस कारण ये ही इसके सच्चे सगे-सम्बन्धी हैं । और इस लिए जीवको इन्हींसे स्नेह करना चाहिए । ये उसे मोक्ष प्राप्त करायेंगे और सदा उसीके साथ रहेंगे ।

मध्यम श्रेणीके जीवोंके लिए एक और दूसरी युक्ति बतलाई जाती है । यदि तुम मध्यम भाव—युवावस्था अथवा बाल-भाव—छोड़ना पसन्द करो तो तुम्हें इस प्रकार भावना या विचार करना चाहिए

कि सारे संसारके–चौरासी लाख जातिके–जीवोंमें जो तुम्हें धर्म मार्गकी और लगावे, जो तुम्हारी कल्याण-कामना करें, जो तुम्हें नीच गतिमें जानेसे रोक कर उच्च गतिके मार्गमें लगावे वे सब तुम्हारे पिताके सदृश हैं। अकेला अमुक जन ही तुम्हारे पिता हैं ऐसा न समझ कर जितने तुम्हारा हित करनेवाले हैं उन सबको अपना पिता समझो; जो तुम पर दया करे–तुम्हारी रक्षा करे–तुम्हें नरक और तिर्यंच गतिके कष्टोंसे बचा कर तुम पर करुणा करें उन्हें अपनी माता समझो; जो तुम्हें इस प्रकारका ज्ञान दें कि यह आत्मा है, यह पर है तथा यह सत्य है, यह असत्य है, उन्हें अपने बन्धु समझो; जो तुम पर क्षमा करें उन्हें अपनी प्रिय स्त्री समझो और जो तुम्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुण प्रदान करें उन सबको अपने पुत्र समझो।

अब जो उत्तम श्रेणीके जीव हैं या उत्तम श्रेणीमें प्रवेश करना चाहते हैं तो उन्हें समझना चाहिए कि ये सांसारिक माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र आदि केवल आन्तरंगिक कुटुंबी जनोंको समझने या उन्हें पहचाननेके साधन मात्र हैं।

विशेष विवेचन—जिस प्रकार पिता हित-मार्ग दिखलाता है उसी प्रकार धर्म भी हित-मार्ग दिखलाता है। जिस प्रकार माता रक्षा करती है–पुत्रका अहित नहीं होने देती–उसी प्रकार करुणा भी अहित होने नहीं देती। इस प्रकार पिता गुणों पर प्रमोद उत्पन्न कराता है और माता दोषों पर करुणा उत्पन्न कराती है। और जिस प्रकार बन्धुगण हित-अहितका ज्ञान कराते हैं उसी प्रकार विवेक भी हित-अहितका ज्ञान कराता है। इसी लिए धर्म पिताकी जगह, करुणा माताकी जगह और विवेक भाईकी जगह कल्पना किये गये हैं। और जिस प्रकार स्त्री शांति उत्पन्न करनेवाली है उसी प्रकार क्षमा भी शान्ति उत्पन्न करती है; इस लिए वह

स्त्रीकी जगह कल्पना की गई है। और जिस प्रकार पुत्र आनन्द प्रदान करता है उसी प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुण भी आत्माको पूर्ण आनन्द-अव्याबाध सुख-प्रदान करते हैं। इसी कारण आचार्यने धर्मको पिता, करुणाको माता, विवेकको भाई, क्षमाको स्त्री और दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि गुणोंको पुत्र बतला कर अपना आत्मीय सच्चा कुटुंब बतलाया है। वे समझाते हैं कि हे वत्स, तू आत्मीय कुटुम्बको अपना सच्चा कुटुम्ब समझ कर बाह्य कुटुम्बके जालमें मत फँस।

अब जो मध्यम श्रेणीके जीव हैं या उसमें प्रवेश करना चाहते हैं, उनके लिए एक और युक्ति है। उसके अनुसार उन्हें भाव-कुटुम्बकी कल्पना करनी चाहिए।

संसारके जीव मात्र—मनुष्य-देव-नारक-तिर्यंच—अनादि कालसे तुम्हारा हित कर रहे हैं अर्थात् तुम्हें धर्ममार्ग पर लगाते हैं, उन सबको तुम अपना पिता समझो; वे ही जब तुम्हारा अहित न होने दें–तुम पर करुणा करें–तब उन्हें अपनी मातायें समझो; वे ही जब हित-अहितका ज्ञान करावें तब उन्हें अपने बन्धु समझो; वे ही जब शान्ति प्रदान करें—क्षमा उत्पन्न करें–तब उन्हें अपनी सहधर्मिणी समझो; और वे ही जब दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पहचान करावें तब उन्हें अपने पुत्र समझो। इस प्रकार जो जीव धर्म-भावसे पिता हैं वे ही करुणा-भावसे माता हैं, विवेक-भावसे बन्धु हैं, क्षमा-भावसे स्त्री हैं और ज्ञान-दर्शनादि भावसे उत्तम पुत्र हैं। इन सब जीवोंमें एक जीव बच रहता है और वह स्वयं तुम्हारा जीव। इस लिए इस कुटुम्बका त्याग न करके यह समझो कि यह कुटुंब क्षमादिका चिह्न है। जिस प्रकार हम साथियेको देख कर उसकी चार पँखड़ियोंसे चार गतियोंको, उस परकी तीन राशियोंसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रको और उस पर स्थित अर्ध चन्द्राकारसे उक्त रत्नत्रय द्वारा प्राप्त होनेवाले मोक्ष स्थानको समझ लेते हैं और जिस प्रकार साथिया आत्माके

गति-नामकर्म, ज्ञानादि गुण और समभाव रूप मोक्षके पहचानका साधन है—चिह्न है उसी प्रकार माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र आदि सब धर्म, दया, विवेक, ज्ञान आदिके समझनेके चिह्न हैं।

अब जो उत्तम श्रेणीके जीव हैं या मध्यम श्रेणीसे उत्तम श्रेणीमें प्रवेश करना चाहते हैं तो उन्हें ऊपर कहे हुए जीव मात्रको धर्म-मार्गमें प्रवर्त्तन करानेवाले समझना चाहिए। यहाँ तक कि स्वयं अपना जीव जब धर्म-भाव धारण करे तब उसे पिता, करुणा-भाव धारण करे तब माता, विवेक-भाव धारण करे तब भाई, शान्ति प्रदान करे तब स्त्री और दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रयका चैतन्यमें अनुभव कराने लगे तब आनन्दित करनेवाला पुत्र समझो।

इस प्रकार जब एक ही अपना आत्मा धर्मरूप, करुणारूप, विवेकरूप, क्षमारूप और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप हो रहेगा अर्थात् उत्तम श्रेणीके जीव जब अभ्यन्तर-कुटुम्बके बाह्य-कारण जो माता-पिता आदिक भाव हैं, उन्हें सर्वथा छोड़ कर—जन्म रहित होकर—अपने आपहीमें रमण करने लगेंगे तब ही वे अनन्त अमरत्त्व लाभ कर सकेंगे। बाल-बुद्धिके जीवोंको बिना निमित्तके ज्ञान नहीं होता इस लिए वे जब माता-पिता आदि बाह्य निमित्तका त्याग कर सकें तब ही उन्हें आत्मस्थ पितादि-भाव रूप कुटुम्बका लाभ प्राप्त हो सकता है। मध्यम श्रेणीके जीवोंको ये सब भाव अपने भीतर ही दिखाई पड़ते हैं, इस लिए उन्हें बाह्य कुटुम्ब-भावके त्यागकी आवश्यकता नहीं रहती। वे उनकी आज्ञा-पूर्वक, उपकार-पूर्वक, आदर-पूर्वक अभ्यन्तर कुटुम्बके प्रत्यक्ष अनुभव करनेके साधनोंको समझ कर और उसका अनुभव करके फिर बाह्य कुटुम्ब-भावका त्याग कर देते हैं। जिस मनुष्यका चित्त एक दस हजार रुपयेके नोटमें—मात्र कागजके टुकड़ेमें—बँध रहा है वह अपने चित्तको उस ओरसे खींच ले तो उसे जान पड़ेगा कि जिस नोटको वह दस हजार रुपयेका समझता है वह मात्र एक

कागजके टुकड़ेमें कल्पना है। इतना ज्ञान हो जाने पर फिर वह उस कागजके टुकड़ेको दस हजार रुपया न समझ कर त्याग देगा और रुपयोंका मूल स्थान मनुष्यकी मेहनतमें—पुण्यमें—देखेगा। इसी प्रकार बाल-बुद्धिके जीव नोट रूपी निमित्त परसे अपने चित्तको हटा कर अपनी शक्तिमें ही दस हजार रुपया देख कर नोटका त्याग करें तब ही वे अपनी योग्यता समझ सकते हैं। मध्यम श्रेणीका जीव समझता है कि यह जो दस हजार रुपयोंका नोट है वह केवल एक कागजका टुकड़ा है। दस हजार रुपयोंकी शक्ति तो मुझमें है। और यह नोट तो केवल इस बातके समझनेका साधन मात्र है कि मेरी शक्ति कितनी है। अस्तु; यह साधन बना रहे, इसके कारण ही मेरी शक्तिका मुझे स्मरण रहेगा। और उत्तम श्रेणीके जीव समझते हैं कि ये दस हजार रुपये स्वयंका परिश्रम है, और इसी परिश्रमका दसरा नाम रुपया है और इन रुपयोंको ही नोट कहते हैं। इसी प्रकार जब अभ्यन्तर चिह्न-स्वरूप माता-पिता स्त्री-पुत्र आदि भाव अपने आपहीमें दिखाई पड़ने लगे तब बाह्य निमित्तकी कुछ जरूरत नहीं रह जाती। जिसे गेहूँ मिल जाते हैं उसे फिर दलिया निरुपयोगी जान पड़ता है, और रोटी मिल जाने पर तो वह और भी निरुपयोगी हो जाता है। उसी प्रकार उत्तम श्रेणीके जीवोंको जब अभ्यन्तर कुटुम्बका अनुभव होने लगता है तब बाह्य कुटुम्ब उन्हें निस्सार जान पड़ने लगता है।

* * * * *

आपनी ही उत्पन्नकी हुई कर्म-प्रकृतियोंके वश हुए जीवको उलहना—

अइपालिआइं पगइत्थिआइं जं भामिओसि बंधेऊ।
संतेवि पुरुसाकारे न लज्जसे जीव तेणांपि ॥ २४ ॥

अतिपालिताभिः प्रकृतिस्त्रीभिर्यद्भ्रामितोसि बद्ध्वा।
सत्यपि पुरुषाकारे न लज्जसे जीव तेनापि ॥

अर्थात् हे आत्मन्, तुझमें पुरुषार्थ रहते हुए भी तेरी ही पाली-पोसी हुई इन कर्म-प्रकृति-रूप स्त्रियोंने तुझे बाँध कर चारों गतियोंमें कितना भ्रमण कराया तो भी तुझे लज्जा नहीं आती।

विवेचन—जिस प्रकार किसी पुरुषकी आठ स्त्रियाँ होती हैं उसी प्रकार हे आत्मन्, आठ कर्मप्रकृतियाँ तेरी आठ स्त्रियाँ है। जिस प्रकार पुरुष अपनी स्त्रियोंके वश होकर वे जैसा कुछ कहती हैं वैसा ही काम करता है उसी प्रकार तू अनादि कालसे कर्मप्रकृति-रूप स्त्रियोंके वश हुआ उनके कहे अनुसार ही सब काम कर रहा है। और जिस प्रकार स्त्रियोंका गुलाम पुरुष अज्ञानी, अन्धा, कंजूस, व्याकुल, निस्तेज, निर्माल्य, जड़ और वीर्य-हीन हो जाता है उसी प्रकार इन आठ कर्म-प्रकृति-रूप स्त्रियोंके वश हुआ तू अपने ज्ञानको ढक कर अज्ञानी–मूर्ख, दर्शनको ढक कर अन्धा, आनन्दको ढक कर कंजूस, चारित्रको ढक कर व्याकुल, अविनाशी जीवनको ढक कर निर्जीव, अरूपीपनेको ढक कर निर्माल्य, अगुरुलघुको ढक कर जड़; और वीर्य-शक्तिको ढक कर निर्वीर्य–निःशक्त हो गया है। कितने आश्चर्यकी बात है कि, तू अपनी ही पाली हुई स्त्रियोंके वश हो गया! जरा अपनी इस गुलामीकी स्थिति पर तो विचार कर, कि तुझमें अनन्त ज्ञानके रहते हुए भी तू अज्ञानी बन रहा है; लोकालोकके प्रकाशक अनन्त दर्शनके होते हुए अन्धा बन रहा है जो

अच्छी तरह परिमित क्षेत्रको भी नहीं देख पाता। जरा विचार कर देख तो सही कि तुझमें अनन्त सुख, अनन्त आनन्दके होने पर भी तू नाम मात्रके लिए सुखी और अनन्त दुखी हो रहा है। इस प्रकार इन कर्म-प्रकृति-रूप स्त्रियोंके द्वारा तुझे अनादि कालसे अनन्त-अपार दुःख मिल रहे हैं, तो भी तू इनके जालमेंसे छूटनेका यत्न नहीं करता—आश्चर्य है! ओरे ओ पागल और कायर आत्मन्, आज तुझे हो क्या गया है? तेरी ब्याही स्त्री—तेरी पाली हुई स्त्री—और तुझहीसे अधिक बलवती! देख, तुझमें अनन्त वीर्य है—अनन्त बल है—उसकी ओर जरा नजर उठा कर देख! अपने अनन्त पराक्रमशाली स्वरूपको देख कर सबसे पहले तुझे इन स्त्रियोंको वश करना चाहिए। और यदि तू इन्हें वश नहीं कर पाता, तो सर्वथा घर बाहर कर दे। तू जहाँ थोड़ा भी इनसे जुदा हुआ कि तुझे अपना सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ने लगेगा। इस प्रयत्न द्वारा तुझे जितना जितना अपना स्वरूप दिखाई पड़ने लगे, उसकी सहायतासे भी तू इन्हें वश करनेका यत्न करता रहेगा तो ये वैभाविक स्त्रियाँ एक न एक दिन अवश्य तेरी गुलाम बन जायँगी।

विशेष विवेचन—जिस प्रकार किसी पुरुषकी आठ स्त्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार ये आठ कर्मप्रकृतियाँ आत्माकी आठ स्त्रियाँ हैं और जिस प्रकार पुरुष स्त्रियोंके वश होकर पागल बन जाता है उसी प्रकार आत्मा इन कर्मप्रकृतियोंके वश होकर पागल बन गया है।

इन कर्म-प्रकृतियोंके नाम और कार्य।

१ ज्ञानावरणी—आत्माके अनन्त ज्ञानको ढकनेवाली।

२ दर्शनावरणी—आत्माके अनन्त दर्शनको ढकनेवाली।

३ वेदनी—आत्माके अनन्त सुखको रोकनेवाली।

४ मोहनी—आत्मामें क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र न होने देनेवाली।

५ आयु—आत्माकी अविनाशी दशा प्रगट न होने देनेवाली।
६ नाम—आत्माके अरूपी गुणोंको रोकनेवाली।
७ गोत्र—आत्माके अगुरुलघु गुणको रोकनेवाली।
८ अन्तराय—आत्माके अनन्त वीर्यके प्रगट होनेमें विघ्न करनेवाली।

हे आत्मन्, जिन स्त्रियोंको तूने अनादि कालसे पाला-प्यार किया—उन्हींने तेरे प्राणभूत स्वाभाविक आठ गुणोंको हर कर तुझे निर्गुण-दरिद्र-बना छोड़ा है। आत्मन्, तू निश्चय समझ कि, ये कर्म-प्रकृति-रूप स्त्रियाँ बड़ी नीच हैं। कुपुत्र जैसे अपने पिताका नाम डुबो देता है, उसी प्रकार ये नीच आठों स्त्रियाँ अपने स्वामी आत्माका नाम डुबोनेवाली हैं। इस-लिए यदि तुझे अपने आठों भाव प्राणोंकी रक्षा करनी है तो इन स्त्रियोंको पानी देकर इनसे अपना छुटकारा कर, जिससे कि ये अपने पिता मोह राजाके पास जाकर आश्रय लें और तेरा पिंड छोड़ें।

इतने पर भी तुझे यदि विश्वास न होता हो तो हे मित्र, हे बन्धु, जरा ध्यान देकर सुन कि तू गुण-रत्नोंसे कैसा तो शोभित था और तुझे इन दुष्ट स्त्रियोंने कैसा दरिद्र, कैसा रंक, बना छोड़ा है! भैया, जरा देख तो सही कि तेरी क्या दशा हो रही है!

देख, तू चक्रवर्तीकी भाँति छह द्रव्य-रूप छह खंडका राजा है—प्रभु है। परन्तु इन स्त्रियोंके जालमें फँस कर पद-भ्रष्ट हो रहा है। और चक्रवर्ती तो केवल इस भू-मण्डल पर ही राज्य करता है, पर यदि तू इन दुष्ट स्त्रियोंको छोड़ दे तो लोकाग्रके शिखर पर-स्फटिक-सदृश उज्ज्वल सिद्धशिला-रूप सिंहासन पर विराजमान होकर, छह द्रव्यमय छह खण्डका—तीन लोकका—चौदह राजूका—निष्कंटक राज्य करने लगे। इस लिए जरा सुन और देख कि इस ज्ञानावरणी कर्म-प्रकृति-रूप स्त्रीके वश होनेसे तेरी क्या हालत हो गई है! तू अपने तकको भूल गया है! कहाँ तो तेरा वह ज्ञान जो कि लोकालोकका प्रकाशक है और कहाँ तेरा

यह वर्तमानका भौगोलिक ज्ञान ? कहाँ वर्तमान इतिहास परसे अनुमान किया गया ज्ञान और कहाँ छह द्रव्योंका–सब जीवों और जड़ पदार्थोंका–अनादि विश्वका–ज्ञान ? देख, कि स्कूल या कालेजमें जो तू इतिहास पढ़ता है, वह तेरे भूतकालके पूर्ण इतिहास-ज्ञानके आगे किस गिनतीमें है!

इसके सिवा तेरा वर्तमानकाल-सम्बन्धी ज्ञान भी इस कर्म-प्रकृतिरूप दुष्ट स्त्रीके वश हो जानेसे परिमित–बहुत थोड़ा–रह गया है। देख तो सही कि, तू वही न ज्ञान-पूर्ण आत्मा है, जो एक समयमें सब पदार्थोंकी उत्पाद-व्यय-ध्रुवात्मक अवस्थाको जान और देख लेता है! उसीका (तेरा) ज्ञानावरण और दर्शनावरण नामकी प्रकृतियोंने क्या हाल कर डाला है! जो सदा जागता रहनेवाला है, वह नींदके अंधकारमें पट्टी बाँध कर कितना घुमाया गया और घुमाया जा रहा है। जो लोकालोकके सब पदार्थोंको हस्तामलकवत् देखनेवाले आत्मन्, जिस दर्शनावरणी दुष्ट स्त्रीने तुझे अन्धा कर छोड़ा है, उसे तू अब तो छोड़–अब तो उसकी गुलामी छोड़!

विशेष विवेचन—जिस प्रकार किसीके आठ स्त्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचारी होने पर भी लेखककी आठ स्त्रियाँ हैं। और जिस प्रकार पुरुष खूब बलवान होने पर भी उन स्त्रियोंके वश होकर पागल बन जाता है उसी प्रकार हे आत्मन्, तू अनन्त बल-वीर्यका स्वामी होने पर भी इन कर्म-प्रकृति-रूप स्त्रियोंका गुलाम होकर पागल बन रहा है। अब यदि तू अपना अनन्त बल-वीर्य–अनन्त पराक्रम–देखना चाहता है तो हे आत्मन्, शीलभद्रकी भाँति प्रति दिन एक स्त्रीका कर्म-प्रकृतिका–परित्याग कर। इतना ही नहीं, किन्तु धन्ना सेठकी तरह एक साथ ही आठों कर्म-प्रकृति रूप अपनी स्त्रियोंको छोड़, जिससे तेरे आठों स्वाभाविक—आत्मीय—गुण प्रगट हो जायँ।

लेखक अपनी आठों दुष्ट स्त्रियोंके प्रति कहता है, और ओ दुष्टिनियो, मैंने अनादि कालसे तुम्हारा पालन-पोषण किया, तो भी तुमने मेरी यह दशा की ! देखो, अब मैं भी इसका बदला चुकानेके लिए तुम्हारा काला मुँह कर तुम्हें घर बाहर ही किये देता हूँ।

ज्ञानावरणी कर्म-प्रकृति—दुष्टे, तेरी संगतिमें लुभा कर मैं अपना अनन्त ज्ञान खो बैठा और मूर्ख, अज्ञानी तथा मिथ्यात्वी बन गया। जो सारे विश्वका जाननेवाला है वह तेरी संगतिसे अपने तकको भी भूल गया ! सूर्य लोकमात्रका प्रकाशक है, पर वह परिमित क्षेत्रमें और परिमित काल तक ही प्रकाश करता है; और मेरा आत्मा सारे त्रिलोकका प्रकाशक है। परन्तु मैं तेरी सोबतमें पड़ कर उसे भुला बैठा। अनादि कालसे जिस वैभाविक डायनको मैंने अपने पास रक्खा था, उसने मेरी ऐसी दुर्दशा कर दी ! जो बात बीत चुकी उसके लिए पश्चात्ताप न कर अब मैं उस डायनको प्रकाशके पास—अपने अन्तरात्माके पास—लाकर उसका सब स्वरूप प्रगट करूँगा—मैं अब उसे किसी भी तरह अपने पास नहीं रख सकता। इस प्रकारके दृढ़ प्रयत्नसे अन्धकारमयी रात्रि जैसी ज्ञानावरणी-रूपी दुष्ट स्त्री फिर दूर दूर भागने लगती है और थोड़ी देरमें बुद्धि आकर कहती है कि, तू आत्म-स्वरूप है, इस लिए देह-भावको छोड़ कर पर वस्तुका साथ छोड़ और अपने स्वरूपमें लीन हो। तुझे तेरे वास्तविक स्वरूपमें देख कर शिव-सुन्दरी—जो बहुत समयसे तेरी लौ लगाये बैठी है—तुझे शीघ्र ही वर लेगी।

सूर्यके द्वारा यह सारा जगत् देखा-जाना जाता है, पर तो भी सूर्यकी ओर दृष्टि करनेवाले बहुत थोड़े हैं। इसी प्रकार ज्ञानके द्वारा सब लोकालोक देखा-जाना जाता है; परन्तु उस ज्ञान-रूप आत्माको बहुत थोड़े लोग देखते-जानते हैं। अनादि कालहीसे ऐसा बनाव बनता आ रहा है; परन्तु अपनेको ज्ञानमय—प्रकाश-रूप—माननेवाले हे आत्मन्, इसमें तेरी ही

ज्यादा भूल है। तू जरा अपने मूल स्थानकी ओर—परम विशुद्ध परमात्म-भावकी ओर—देख, तब तुझे अपने स्वरूपका भान होगा। उससे तेरी ज्ञानावरणी प्रकृति-रूपी स्त्री तेरा साथ छोड़ देगी और उसकी जगह ज्ञान-प्रभा—आत्म-प्रभा—नामकी तेरी सच्ची सँगातिन आकर फिर अनन्त काल तक तेरे ही साथ रहेगी—उसका तेरा विछोह फिर कभी न होगा, जिसे कि इतने दिनोंसे तू भूल गया था। उस समय तू आँखों परकी पट्टी खोल देनेकी भाँति सारे जगतको और उसमें स्थित छहों द्रव्योंके गुण-पर्यायोंको देखने लगेगा; तथा चक्रवर्ती जिस प्रकार छह खंडका राजा होता है, उसी प्रकार छहों द्रव्य तेरे स्वाधीन रहनेके कारण छह खंड ही नहीं, किन्तु इन छह द्रव्यमय सारा जगत्—सारी सृष्टि—सारा विश्व—तेरे स्वाधीन हो जायगा। इस लिए अब तुझे अज्ञानको छोड़ कर आत्म-स्वरूपमें ही स्थिर रहना उचित है। इसी प्रकार महाराजाधिराज आत्माके पास न जाने देनेवाली दर्शना-वरणीको बल-पूर्वक खदेड़ फेंकनेसे तू प्रसन्न-वदना दर्शन-देवीके दर्शन कर सकेगा; वेदनीको छोड़ देने पर अनन्त सुख प्राप्त कर सकेगा; मोहनी-को त्याग देनेसे तुझहीमें रमण करनेवाली यथाख्यात चारित्रमयी परम पतिव्रता सुन्दरी तेरे पास आ खड़ी रहेगी और मोक्षमें भी वह तेरे साथ रहेगी; आयु-प्रकृतिका साथ छोड़ देनेसे अमराङ्गना जैसी सुन्दर अविनाशी अनन्त स्थिति-सुन्दरी तुझे प्राप्त हो सकेगी; और इसी प्रकार नाम-प्रकृतिके छोड़ देनेसे अनुपम रूप-शालिनी 'अरूपी' स्त्री, गोत्र-प्रकृतिके छोड़ देनेसे 'अगुरुलघुमयी' स्त्री, तथा अन्तराय-प्रकृतिके छोड़ देनेसे 'अनन्त वीर्यमयी' महा वीराङ्गना प्राप्त हो सकेगी और निरंतर तेरे साथ रहेगी। इस लिए इन आठों दुष्ट स्त्रियोंको छोड़ कि, जिससे आठ-स्वरूपमयी अनन्य पतिप्राणा सुन्दरियाँ तेरी सेवामें उपस्थित हो सकें। परन्तु यह सुन कर तुझे विस्मित न होना चाहिए। कि वास्तवमें ये आठ-

स्त्रियाँ नहीं है—एक ही है, और जरा ध्यान-लीन होकर देखेगा तो तुझे भी इस बातका विश्वास हो जायगा। परन्तु हाँ इसमें कुछ थोड़ी विशेषता है। वह यह कि, जिस भाँति एक ही पतिव्रता स्त्री तरह तरहकी साड़ी पहन कर जुदे जुदे वेष करती है, उसी प्रकार तेरी सच्ची 'समता' स्त्री तेरे जुदे जुदे गुणोंमें लीन होकर जुदे जुदे रूप धारण कर रही है। वास्तवमें देखते हुए तू सच्चा एकपत्नी-व्रतका पालन करनेवाला है और वह तेरी परम पतिव्रता प्रियतमा है। अथवा तू और वह कोई भिन्न भिन्न न होकर एक ही हो—अभेद-रूप हो। तू ही आत्मा है, तू ही समता है। तुम दोनों ही ज्ञान-रूप हो, प्रभा-रूप हो। जिस भाँति प्रभा सूर्यसे भिन्न नहीं है उसी भाँति आत्मा और समता अभिन्न हैं—एक ही है।

* * * * *

आत्मा अपने ही किये कर्मोंसे दुःख सहता है—

सयमेव कुणासि कम्मं तेणय वाहिज्जासि तुमं चेव।
रे जीव अप्पवेरिअ अण्णस्सय देसि किं दोसं॥ २५॥

स्वयमेव करोषि कर्म तेनाथ वाह्यसे त्वं चैव।
रे जीव आत्मवैरिन् अन्यस्मै ददासि किं दोषं॥

अर्थात् हे आत्म-शत्रु जीव, तू स्वयं ही कर्म करता है और इसी लिए वे कर्म फिर तुझे चारों गतियोंमें परिभ्रमण कराते हैं। फिर न जाने क्यों तू कर्मोंको दोषी ठहराता है।

विवेचन—हे आत्मन्, तू तो कर्मोंको उत्पन्न करता है और कर्म ही तुझे नारक-तिर्यंच-देव-मनुष्य-गतिमें घसीटते हैं, यह कैसा आश्चर्य है! जो कर्म जन्म-जन्ममें तेरा खून करते रहते हैं, उन कर्मोंको फिर तुझे करना ही क्यों चाहिए? तुझे ऐसे खूँखार खूनी पैदा करने ही न चाहिए। और जो पहलेके

पैदा किये हुए हैं, उन्हें नष्ट करनेका यत्न करना चाहिए । उन्हें तपस्या द्वारा जड़ मूलसे नष्ट करके ध्यान द्वारा उनकी राख भी उड़ा देनी चाहिए ।

जिस प्रकार पृथ्वी पर रात्रि होती है उसी प्रकार आत्मा पर नामकर्म द्वारा उत्पन्न हुई मोहान्धकार-रूपी रात्रिने अपना अधिकार कर रक्खा है । इस लिए उस रात्रिमेंसे अपनेको निकाल कर अन्तरात्म-भावमें तुझे प्रवेश करना चाहिए । ऐसा करनेसे तुझे पृथ्वी पर दिन निकलनेकी भाँति प्रकाश दिखाई पड़ने लगेगा । और जितना जितना प्रकाश चढ़ता जायगा, उतना उतना अन्धकार मिटता जायगा। इस प्रकार रात्रि जैसे अशुभ कर्मोंके नष्ट हो जाने पर और आत्माके दिनके उजेलेमें आ जाने पर—अपने निज स्वरूपमें आ जाने पर—फिर वह अपनी दृष्टिको सूर्यकी ओर कर सकेगा, जो कि प्रकाशका मूल स्थान है । इसी प्रकार मोहान्धकार-रूपी रात्रिके दूर हो जाने पर आत्मा अपने भीतर दृष्टि कर अपने स्वरूपको जान सकेगा । इसके बाद जब दिनके प्रकाशके जैसे शुभ कर्म भी नष्ट हो जायँगे तब आत्मा स्वयं सूर्यकी भाँति अविनाशी, दिव्य प्रकाशमय, निष्कर्मा हो जायगा और फिर उसे कर्म चारों गतियोंमें कभी घसीट न सकेंगे ।

इस लिए पहले तो दुःखोंको दूर करनेके लिए अशुभ कर्मोंको दूर करना चाहिए और फिर सुखको दूर करनेके लिए शुभ कर्मोंको भी दूर कर अन्तरात्म द्वारा परमात्माके दर्शन कर । इससे तुझे अनन्त आनन्द प्राप्त होगा । अब तक तू कर्म करके अपना ही शत्रु बना और अपनी ही तूने हानि की । इस लिए अबसे तुझे अपने ज्ञानादि गुणोंका ही कर्ता रहना चाहिए । और इस प्रकार स्वतः अपनी रक्षा करके अन्य दुखी जीवोंकी भी रक्षा कर—उनका उद्धार कर । तभी तू स्वयं सत्तार्धीश होकर अनन्त जीवन लाभ कर सकेगा ।

* * * * * *

सुमतिका आत्माको उपदेश—

तं कुणसि तं जंपसि तं चिंतसि जेण पडसि वसणोहे।
एयं सगिहरहस्सं ण सक्किमो कहिउमण्णस्स ॥ २६ ॥

तत्करोषि तच्च जल्पसि तच्चिन्तयसे येन पतसि व्यसनौघे ।
एतत्स्वगृहरहस्यं न शक्नुमः कथयितुमन्यस्य ॥

अर्थात् हे आत्मन्, तू वही काम करता है, वैसे ही वचन बोलता है, और वैसे ही विचार करता है कि जिनसे तुझे दिन दिन अधिक अधिक दुःख प्राप्त होते जायँ—तू दुःखके ही गढ़ेमें गिरता जाये। अपनी इन घरेलू बातोंको दूसरोंके सामने कहनेके लिए मैं समर्थ नहीं हूँ।

विवेचन—सचमुच जब तक आत्मा यह समझता रहता है कि, मैं पर-भावोंका कर्त्ता हूँ, तब तक वह कर्मोंके जालमें फँस कर नाना प्रकारके शरीर-रूपी यंत्रोंको बनाता रहता है और दुःखोंको उठाता है। अपने स्वामीको दुःखोंमें फँसा देख समता उससे कहती है कि, तुमने कर्मों द्वारा पर-भावके कार्य करके जो दुःख उठाये हैं, इसकी भी कुछ तुम्हें खबर है? तुम्हारा स्वभाव तो ज्ञान-दर्शनमय है, फिर तुम उसीमें क्यों विलास नहीं करते? ये घरकी बातें बतलाओ, दूसरोंके सामने कैसे कही जा सकती हैं? इस प्रकार जब चेतना—समता—आत्माको लज्जित करती है, तब ही उसकी अकल ठिकाने आकर वह मनुष्योंके स्वभाव जैसी क्रिया करने लगता है। जो शरीर पहले दूसरे जीवोंकी हिंसा करता था, वह अब अपनी तथा दूसरेकी रक्षा करने लगता है, जो वचन पहले दूसरोंको क्लेश उत्पन्न करते थे, वे अब उन्हें परम शान्ति प्रदान करते हैं, और जो मन पहले दूसरोंके अनिष्टका ही विचार किया करता था, वह अब सदा उनके हितका—कल्याणका—ही विचार किया करता है। इस प्रकार जो मन-वचन-कायकी क्रिया पहले अज्ञान-पूर्वक होती थी, वह अब ज्ञान-पूर्वक होने लगती है और आत्माकी दृष्टि

अपने निज स्वभावकी ओर ही जाती है। और जो शब्द, जो क्रिया, जो विचार कर्म-बन्धके कारण हो रहे थे, वे ही अब निर्जराके कारण होकर आत्माको मुक्ति प्राप्त करानेके कारण हो जाते हैं।

* * * * *

आत्मधनके लुटेरे—

पंचिंदियपरा चोरा मणयुवरण्णो मिलित्तु पावस्स।
निजनिअअत्थे निरता मूलट्ठिअं तुज्झ लुंपंति ॥ २७ ॥

पञ्चेन्द्रियपराश्चौरा मनोयुवराजस्य मिलित्वा पापस्य।
निजनिजार्थे निरता मूलस्थितं तव लुम्पन्ति ॥

अर्थात् हे आत्मन्, अपने अपने मतलबमें खूब सावधान—अपने अपने विषयोंमें अनुरक्त—ये पञ्चेन्द्रिय-रूपी चोर पापी मन-रूपी युवराजके साथ मिल कर तेरे मूल धनको—तेरे आत्म-गुणोंको—लूटे लिये जा रहे हैं।

विवेचन—जिस प्रकार सुगन्धकी भण्डार कस्तूरी कस्तूरीमृगकी नाभिहीमें रहती है, परन्तु उसकी सुगंध जो बाहर फैलती रहती है, उससे मृग यह समझ कर, कि सुगंध कहीं दूसरी जगहसे आ रही है, इधर उधर सूँघता फिरता है; उसी प्रकार आत्मा भी अनन्त अविनाशी सुखका धाम है—वह सुख उसीके भीतर है—परन्तु उसकी जो कुछ झलक विषयों पर पड़ रही है, उससे यह समझता है कि सुख विषयोंमें ही है, और इसी लिए अपने भीतर भरे हुए सुख-सुधाके भंडारको भूल कर विषयोंकी ओर ही दौड़ता है और उन विषयोंमें भरे विषका सेवन कर अपना आत्मघात कर लेता है। कितने आश्चर्यकी बात है कि, जिस विषय-विषका सेवन कर इसे भव-भवमें मौतके पंजेमें फँसना पड़ता है तो भी यह उन्हें छोड़नेका यत्न नहीं करता! इस लिए आचार्य इसे समझाते हैं कि, ये पंचेन्द्रियोंके विषय तेरे सुख-सुधाके भंडारको लूटनेवाले

हैं, तू इन्हें छोड़ कर अपने भीतर देख । वहाँ तुझे तीन अनमोल रत्न—दर्शन-ज्ञान-चारित्र—मिलेंगे ।

अब जरा विषयोंकी ओर देख कि उनमें सुख है क्या? श्रवणेन्द्रियका विषय शब्द है । उसमें आनन्द नहीं; क्योंकि शब्दोच्चारणकी इच्छा करनेवाला आत्मा स्वयं आनन्द-रूप है—अमृतपान कर रहा है । चक्षु-इन्द्रियका विषय, रूप, विष भरा हुआ है; परन्तु जो रूप-भोगकी इच्छा करनेवाला है—वह स्वयं इतना सुन्दर है कि, उसे इन्द्र भी पूजता है–सिर नवाता है । इसी प्रकार घ्राणेंद्रियका विषय सुगन्ध भी विष-रूप ही है; परन्तु जो उस सुगन्धकी इच्छा करनेवाला है, उसकी सुगन्ध तो लोकालोक पर्यन्त फैलनेवाली है । यही हाल रसनेन्द्रियके विषयका है–उसमें कुछ रस नहीं है; परन्तु जो रसका इच्छुक है, वह स्वयं ही रसमय है । जैसा कि कहा है—'रसो वै सः' अर्थात् आत्मा रस-रूप है । इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रियका विषय स्पर्श भी विष-रूप है । उसे छोड़ कर अपने स्वरूपका आलिङ्गन करना–अपने स्वरूपका स्पर्श-ज्ञान होना–अमृत-रूप है । इस लिए अपनी मूल स्थितिका ही, जो कि सुखमय है, सेवन करना चाहिए, विष-रूप विषयोंका सेवन करना उचित नहीं है ।

इन इन्द्रियोंके साथ ही क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह और मत्सर ये छह विकार भी आत्माके स्वरूप ज्ञानादिकको नष्ट कर डालते हैं । देखो, जब क्रोध होता है तब पढ़ी हुई बातें भी याद नहीं उठतीं । मान होता है तब यह इच्छा नहीं होती है, कि, मैं उस गुणवान व्यक्तिके पास पढ़ूँ–उसके द्वारा कुछ लाभ उठाऊँ । इस इच्छाको न होने देनेवाला मान है । वह अज्ञानमें डुबो देता है, और आँखों पर पट्टी बाँधनेका काम करता है । माया कपटका पाठ पढ़ाती है । वह, जिस बातका तुम्हें ज्ञान है, जिन बातोंको तुम जानते हो उनसे उल्टे ही विचार, उल्टे ही उच्चारण और उल्टी ही क्रिया करा कर आत्म-सूर्यके पास काले बादलोंकी घटाके लानेका

यत्न करती है और इस प्रकार आत्माके देखनेका द्वार बन्द कर देती है। लोभ आत्माको आत्मीय गुण-रूप अनन्त धनकी ओरसे हटा कर मिट्टीके जैसे बाह्य धनमें—पर वस्तुमें—आसक्त कर देता है। इसके साथ रह कर आत्माकी जो दशा हो जाती है, उसे जरा देखो तो। जिस प्रकार सोना आगमें गलाया जाता है, तपाया जाता है, छेदा जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्माकी दशा होती है। कर्मोंके सम्बन्धसे—पर वस्तुके लोभसे—कितनी बार यह गलाया गया—इसे अनन्त बार जलकायमें जन्म धारण करने पड़े, कितनी ही बार आधि-व्याधि-उपाधि-रूप आगमें यह तपाया गया और कितनी बार नाना प्रकारके शरीर धारण कर नारक, तिर्यंच, आदि-गतियोंमें छेदा गया—काटा गया—कष्ट दिया गया। यद्यपि यह काटा-छेदा नहीं जाता, तथापि लोभके वश हो शरीरके सम्बन्धसे इसे ये कष्ट उठाने पड़े। इस लिए अब तुझे इस लोभ-चोरको घर-बाहर निकालनेके लिए अपने हाथमें विवेक-रूपी प्रदीप लेना चाहिए, जिससे यह भयानक चोर भाग जाय और तेरी अनन्त आत्मीय सम्पत्ति लुटनेसे बच जाय।

मोहने भी तेरी यही हालत कर डाली है। तुझे फुसला कर, घबरा कर, गलेमें फाँसी डाल कर, मुँहमें कपड़ा ठूँस कर और तेरी हृदयकी आँखें फोड़ कर, तुझे अंधा बना दिया है। इसके दूर करनेका यत्न करना उचित है। जरा आँखें खोल कर विचार देख कि तू कौन है? जब तुझे यह ज्ञान हो जायगा कि 'मैं आत्मा हूँ' तब मोह एक क्षण भरके लिए भी तुझ पर अपनी सत्ता न जमा सकेगा और अपनासा मुँह लेकर उसे उल्टे पैरों भागना पड़ेगा।

आत्मा सिंहके जैसा है। वह अपने स्वभावमें स्थिर रह कर अपना वैसा ही पराक्रम दिखाने लगे, तो बेचारे मोह-मृगकी क्या हिम्मत जो वह उसके सामने ठहर सके। उस समय इस संसार-वनमें आत्म-सिंह अपना राज्य

निष्कण्टक-एक छत्र-भोग सकेगा। यही नहीं, किन्तु आठों कर्म-रूप मृगोंको मार कर अपने निजानन्दमें लीन हो सकेगा।

मत्सर भी अपने नामके माफिक अपना काम कर रहा है। आत्माके जो खास गुण हैं उनकी ओर तो वह उसे कभी आँख उठा कर भी नहीं देखने देता। और उनसे ईर्षा कर, पर वस्तुके गुणों पर उसे मुग्ध कर उनकी उससे प्रशंसा करवाता है और उसे उसके निज स्वरूपसे दूर दूर कर रहा है। परन्तु आत्माके लिए यह ठीक नहीं है, उसके लिए तो उत्तम यह है कि जिन गुणोंको देख कर उसे अपने गुणोंकी याद हो वह वही काम करे। वह जब अपने गुणोंकी ओर दृष्टि करेगा तब उसे एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा। उस आनन्दको लाभ कर उसके द्वारा उसे मत्सरको दूर करना चाहिए। कारण गुण-लाभकी इच्छा उसीसे होती है जो ज्ञानमें, गुणमें, द्रव्यमें, रूपमें श्रेष्ठ हो। 'आत्मानन्द' एक ऐसी ही वस्तु है। वह अपने उदाहरणसे सबको अपने जैसा होनेकी शिक्षा देता है और इसके लिए सबको उसका उपकार मानना चाहिए। इस प्रकार आत्मानन्द होने पर मत्सर-रूपी लुटेरा शीघ्र भाग छूटेगा।

इस प्रकार आगके जैसे क्रोधको क्षमा-रूपी जलसे, मानके नशेको नम्रता-रूपी छाछसे, मायाको सरलता-रूपी सखीकी संगतिसे, गहरे कुएँके सदृश लोभको सन्तोषसे, मोहको विवेक-प्रदीपसे और जहरी मत्सरको आत्मानन्द द्वारा दूर करना चाहिए। इसके बाद आत्माके ज्ञानादि गुण-रत्नोंको कोई चोर न सकेगा।

मनरूपी युवराज।

यह ठीक है कि इन्द्रिय-रूपी चोर और काम क्रोधादि-रूप लुटेरे आत्माके गुण रत्नोंका चुराते हैं; परन्तु, उसमें सबसे बड़ी सहायता

मन-रूपी युवराजकी है। इस लिए सबसे पहले आत्माको इस युवराजके पकड़नेका यत्न करना चाहिए। और यदि आत्मा इसे पकड़ कर इसके पाँवोंमें ध्यानमयी बेड़ियाँमें डाल सके तो यह सहज ही बन्दी हो जाय; और फिर इसकी सहायता न मिलनेसे काम-क्रोधादि लुटेरे और इन्द्रिय चोर भी, जो कि इसी मनके नौकर हैं, बन्दी हो सकेंगे। इसके बाद आत्मा इनके फन्देसे छूट कर समभाव-रूपी नगरमें बड़े आनन्द-सुख-चैनसे रहने लगेगा–जीवन्मुक्त होकर सुखानुभव करने लगेगा। ये इन्द्रिय-रूपी चोर चोरकी भाँति मालूम न पड़ने देकर आत्माके गुण-रत्नोंको चुराते हैं और काम-क्रोधादि लुटेरे देखते देखते आत्माके गुण-रत्नोंको लूट लेते हैं। इस लिए इनके पकड़नेके लिए सबसे पहले इनके नायक—सरदार–मनको पकड़ बाँध कर कैदमें पूर देना चाहिए और वहाँ इससे तप-रूपी सख्त मजूरी करानी चाहिए। इसके बाद यदि यह सुधर जाये तो इसे आत्माकी अधीनतामें रख कर कामकी जगह शीलका, क्रोधकी जगह क्षमाका, लोभकी जगह संतोषका, मोहकी जगह विवेकका, मदकी जगह सभ्यताका, और मत्सरकी जगह आनन्दका, सरदार बना देना चाहिए। और जो पहले पाँच इन्द्रिय-रूपी चोर इसके हाथ नीचे थे, उनकी जगह पाँच अणुव्रत-रूपी साहूकारोंको–सम्मति देनेवाले उच्च व्यक्ति-योंको–इसकी सहायताके लिए नियुक्त कर देना चाहिए। और जो वे पाँचों चोर विषयों द्वारा आत्मा पर आस्रवका भार लाद कर उसे पापके गढ़ेमें डाल रहे थे उस आस्रवका संवर कर देना चाहिए–उसे रोक देना चाहिए। इसके बाद आत्मा पुण्यके मेरु पर चढ़ कर अथवा विशुद्ध भाव-रूप समताके कैलास पर चढ़ कर अनन्त आनन्दमें लीन हो सकेगा।

मनका आत्माके सहकारियों तथा उसके साथ अन्याय--

हणिओ विवेगमंती भिण्णं चउरंगधम्मचक्कंपि ।
मुट्ठं णाणाइधणं तुमंपि खित्तो कुगइकुवे ॥ २८ ॥

हतो विवेकमंत्री भिन्नं चतुरंगधर्मचक्रमपि ।
मुष्टं ज्ञानादिधनं त्वमपि क्षिप्तः कुगतिकूपे ॥

अर्थात् इस मनने विवेक-मंत्रीको मार कर चतुरंग धर्मचक्रको--मनुष्य-जन्म, धर्म-श्रवण, श्रद्धा और संयमको--भी नष्ट कर दिया; और हे आत्मन्, इसके बाद तेरे ज्ञानादि धनको लूट कर तुझे भी दुर्गति-रूप कुएँमें डाल दिया है।

विवेचन---देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्मको धारण करनेवाले कितने ही मनुष्योंको इस निर्दयी मनने पापमय नरकोंके जैसे घोरसे घोर दुःख देकर जो कुचल डाला, यह क्यों? इस लिए कि उसने उनके विवेक-मंत्रीको पहले मार डाला। सारा मनुष्य-जन्म बीत जाय और यह न जान पड़े कि 'मैं मनुष्य हूँ' इसका क्या कारण? इस लिए कि उसका विवेक-प्रदीप निभ गया है। यह जो चिन्तामणिके जैसा मनुष्य-जन्म संसार-कीचड़में एक कीड़ेके जैसा रौंदा जा रहा है, यह क्यों? इस लिए कि उसका विवेक नष्ट हो गया है। इस मनुष्य-जन्ममें भी लोग बड़े दुःखी हैं। किसीको किसी भाँतिका दुःख है और किसीको किसी भाँतिका। केई बेचारे घर-गिरिस्तीका भार सिर पर उठाये हुए उस बैलकी भाँति निरन्तर कराहते रहते हैं जो गाड़ीमें जुता रह कर गहरे दल-दलमें फँस गया है और जिसके कि निकलनेकी बहुत कम आशा है।

मनुष्य जो विषयोंमें आसक्त होकर, अपनी सब पूँजी खा-लुटानेवाले एक आलसीकी भाँति हो बैठता है, यह क्यों? कहना पड़ेगा कि, केवल एक विवेकके न होनेसे। परन्तु जिनका विवेक-प्रदीप बुझ नहीं गया

है, वे आलसी न बन कर विचार करते हैं कि 'मैं कौन हूँ।' ऐसे लोग पहले विवेक-प्रदीप द्वारा यह निश्चय करते हैं कि मैं नारकीयोंके जैसा दुखी न होकर मनुष्य हूँ; कारण दुःख रौद्रध्यानसे होता है और मुझमें रौद्रध्यान नहीं है और न मैं आगे ही उसे होने दूँगा। इसके बाद जब वही विवेक चन्द्रके रूपमें उदय होता है, तब वे समझने लगते हैं, मैं तिर्यंच भी नहीं हूँ; कारण तिर्यंचोंके जैसा आर्तध्यान मुझमें नहीं है और न मैं उसे होने ही दूँगा। इसके बाद जब वही विवेक भानुके रूपमें उदय होता है, तब वे समझते हैं कि मैं देव भी नहीं हूँ; क्योंकि धर्मध्यानके फलसे प्राप्त होनेवाली देव-पर्यायमें सब अच्छा ही अच्छा दिखाई पड़ता है और मुझे वैसा दिखाई नहीं पड़ता, इस लिए कि मैं धर्मध्यानी नहीं। मुझे तो मनुष्योंके योग्य केवल एक शुक्लध्यान ही श्रेष्ठ जान पड़ता है। पर मैं जो नरकके अशुद्ध भावोंमेंसे, तिर्यंचोंके अशुभ भावोंमेंसे, और देवोंके शुभ-भावोंमेंसे निकल कर, मनुष्यके शुद्ध भावोंमें आ देव-दुर्लभ सर्वजनवंद्य मनुष्य-भवमें आया, यह खबर मुझे कैसे हुई ? कहना पड़ेगा कि, विवेक-रूपी दीपकके द्वारा। परन्तु मेरा ध्येय तो विवेक-प्रदीप प्राप्त करना नहीं है, मैं तो शुक्लध्यानका परिणाम हूँ और शुक्लध्यान ही मेरे लिए कर्त्तव्य है।

मैं चक्रवर्तीकी भाँति छह खण्डका राजा न होकर सारी सृष्टिके छह खंडकां अर्थात् छह द्रव्य-रूप संसारका मालिक हूँ—चक्रवर्ती सम्राट हूँ—सारे भू-मण्डलका—सारे ब्रह्माण्डका—स्वामी हूँ। क्योंकि अपने ज्ञानके द्वारा छहों द्रव्योंको मैं जानता हूँ। ये द्रव्य मेरे सेवक हैं और मैं इनका सेव्य—स्वामी हूँ।

धर्मश्रवण—विवेक-रूप—लोकालोक-प्रकाशक-रूप—सूर्य द्वारा मुझे यह ज्ञान तो हो गया कि यह आत्मा है और यह पर है। परन्तु अब मैं सोचता हूँ, कि, मेरा धर्म क्या है, जिसका कि मुझे श्रवण करना है। मैं उस धर्मका श्रवण करना चाहता हूँ, जिससे कि ...

ध्यान-बलसे मैंने उत्तम मनुष्य-गति लाभ की है और अब उससे ऊँचे चढ़नेके लिए मेरी इच्छा है कि मैं अशुभ, अशुद्ध और शुद्ध भावोंको दूर कर और केवल शुद्ध अवस्थामें स्थित हो, अनन्त अपार संसार-समुद्र पार कर, सिद्ध अवस्था प्राप्त कर सकूँ। मुझे निश्चय है कि इस प्रकारके धर्मका श्रवण विवेक-भास्करके द्वारा प्राप्त हो सकेगा।

श्रद्धा—धर्मके बाद श्रद्धाका स्थान है। उसके विषयमें इस प्रकारकी भावना करनी चाहिए कि मैं न दिनके प्रकाशके जैसा हूँ, और न रात्रिके अन्धकारके जैसा। किन्तु यह दिन जिसके द्वारा जाना जाता है, उस सूर्यकी ओर दृष्टि करनेसे जिस प्रकार सूर्यके दर्शन हो जाते हैं उसी प्रकार अन्तरात्माके प्रकाशको देखते ही उसके मूल-स्थान, सर्वत्र प्रकाश करनेवाले परमात्माके दर्शन हो जानेसे समझना चाहिए, कि, मैं उसीमें मिल कर श्रद्धा रख रहा हूँ।

संयम—अन्तमें जिस परमात्मामें श्रद्धा रख कर मैं ध्यान करता हूँ, उस ध्यानके द्वारा परमात्मभावमें, पूर्ण ज्ञानमें, और पूर्ण आनन्दमें संयम कर रहा हूँ। यह संयम न शुक्लध्यानकी प्राप्तिके लिए है और न लोकालोककी वस्तुओंको जाननेके लिए; किन्तु इसके लिए है, कि, मैं अपने चिदानन्दको जान कर—अपने सच्चे स्वरूपको जान कर—ध्यानातीत—शुक्लध्यानसे भी परे—सहजानन्दमय मोक्ष प्राप्त कर सकूँ।

इस प्रकार इस मनुष्य-जन्ममें मुझे विवेक-प्रदीप—विवेक-चंद्र—विवेक-सूर्य और विवेक-रूप लोकालोकप्रकाशक-ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है, इस बातको मैं धर्म-श्रवण द्वारा जानता हूँ। कारण मेरे अन्तरंग अनुभव पर अपनी मोहर लगानेके लिए प्रभुने मुझसे कहा है कि तू आत्मा है, शरीर नहीं है। यह मनुष्य तो एक पर्याय है, जो नामकर्मकी प्रकृति है और तू तो इस प्रकृतिका भी स्वामी, इसको जीतनेवाला—इसका क्षय करनेवाला है। और विवेकहीसे अनुभवमें—शास्त्र-श्रवणमें—श्रद्धा होती है। उस श्रद्धाके

द्वारा–आत्मावलम्बनके द्वारा–यह बात जान पाता हूँ कि मैं भी प्रभुकी भाँति आत्मा हूँ। यह जान कर, अनुभव कर, आत्म-संयम करनेसे घड़ी भरके लिए ध्यानातीत अवस्थाकी–सम-भावकी–झलक दिखाई पड़ने लगती है।

विवेक-स्वरूप।

आत्माको आत्मा और पर वस्तुको पर जाननेका नाम विवेक है। इस प्रकारका विवेक मनुष्य-जन्ममें ही होता है। मनुष्य-जन्म नारक, तिर्यंच, और देव-जन्मसे श्रेष्ठ है, यह बात तब जानी जा सकती है जब संसारका मोहान्धकार दूर हो। इसके दूर करनेके लिए विवेक रेडियम धातुके जैसा एक प्रकाशमय पदार्थ है। इसके बाद जब चतुरंग-सेनामेंसे धर्म-श्रवण नामका दूसरा अंग प्राप्त होता है तब यह विवेक केवल-दीपक ही नहीं रहता; किन्तु विषयोंकी इच्छा-रूप प्रचण्ड हवासे भी कभी न बुझनेवाला—विषय भोगोंमें अनासक्त—विवेक-चंद्रके जैसा जान पड़ने लगता है। परन्तु चन्द्रमा तो पन्द्रह दिन तक उदय होता है और पन्द्रह दिन तक उदय नहीं होता; और यह तो कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष दोनोंमें सदा उदय होनेवाले सूर्यकी भाँति मेरे सारे भवमें प्रति दिन उदय होता रहता है। इस प्रकारका विवेक धर्म-श्रवणमें श्रद्धा होनेसे प्रगट होता है।

ऊपर जैसा कि २७ वीं गाथामें कहा गया है कि मन-रूपी युवराज, पञ्चेन्द्रिय-रूपी चोरों तथा काम-क्रोधादि लुटेरोंने आत्माके ज्ञानादि रत्नोंको लूट लिया, उसी प्रकार इस गाथामें यह कहा गया है कि मनने आत्माके विवेक मंत्रीको मार कर धर्मचक्रको भी छिन्न-भिन्न कर डाला है।

धर्मचक्र एक विशाल सेना है। इसे यदि आत्माके शुद्ध मन-रूपी युवराजके हाथों सौंपदी जाये—ध्यानी शुद्ध मनको सेनापति बना कर उसके द्वारा इसका संचालन किया जाये—तो इसकी सहायतासे आत्मा बातकी बातमें विषय रूपी चोरों और काम-क्रोधादि लुटेरोंको मार भगायेगा; और मनुष्य-जन्मको एक सैनिकके जैसा समझ कर, उसे कायोत्सर्ग ध्यानमें लगा कर या देश-विदेश विहार कर, उसकी

कि यह 'मनुष्यत्त्व' भी एक पर्याय है और मैं इसका जाननेवाला आत्मा हूँ। गुरुवचनोंमें श्रद्धा करनेसे यह बात और भी दृढ़ निश्चित हो जाती है। और इसी लिए फिर तू श्रद्धामें मन स्थिर कर, प्रमाद-निद्राको दूर कर, जागृत हो निजानन्दमें स्थिर हो रहता है। ये सब बातें सद्गुरुकी शरणमें जानेसे ही हो सकेंगी। और सद्गुरु ही तुझे तेरे सत्य स्वरूपका ज्ञान करा सकेंगे।

* * * * *

आत्म-स्वरूप—

लोगपमाणोसि तुमं णाणमओणंतविरिओसि तुमं।
णियरज्जट्ठिअं चिंतसु धम्मज्झाणासणासिणो॥२०॥

लोकप्रमाणोसि त्वं ज्ञानमयोऽनन्तवीर्योसि त्वं।
निजराज्यस्थितिं चिन्तय धर्मध्यानासनासीनः॥

अर्थात् हे आत्मन्, तू लोक-प्रमाण है, ज्ञानमय है, अनन्त वीर्य-युक्त है। जरा धर्मध्यान-रूपी आसन पर विराजमान होकर अपनी राज्यस्थिति-का तो विचार कर।

विवेचन—आत्मा लोकाकाश प्रमाण है। आकाशके दो भेद हैं। एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। इनमें लोकाकाश सान्त है और अलोकाकाश अनन्त। तू जो लोकाकाश-प्रमाण कहा गया, इसका अर्थ यह कि तेरा विस्तार लोक-पर्यन्त हो सकता है। यह तो है आगम-प्रमाण; परन्तु इसके सिवा एक युक्ति भी है, जिससे कि तेरा लोक-प्रमाणपना सिद्ध है। देख, कहा जाता है कि इस घरमें देवदत्त है; अर्थात् घरमें देवदत्तका शरीर है और शरीर, घर, शहर, भारत यूरोप, यहाँ तक कि सारी सृष्टि ये सब एक मनके भीतर समा जाते हैं। और वह मन आत्मामें समा रहा है, तो जिस आत्मामें सारी सृष्टि समा गई वह फिर लोक-प्रमाण हो तो इसमें आश्चर्य

सहायतासे कर्मोंकी सेनाको पराजित करता जायगा। इसके बाद वह धर्म-श्रवण या धर्म-कथाके पढ़नेको घुड़-सवार सैनिकके जैसा समझ कर उसकी सहायतासे शरीर-भाव और परिग्रहको नष्ट कर देगा। इस प्रकार विजय लाभ कर चुकनेके बाद यह अन्तरात्म-भाव-रूप हाथी पर सवार होगा। इसकी दृष्टि फिर संसारमें गुणोंकी ओर ही रहेगी। उसके द्वारा यह अशुभ कर्मों पर विजय लाभ करता हुआ बड़ी सानके साथ आगे आगे बढ़ता जायगा। इस प्रकार यह निज स्वरूपमें विलास करता हुआ मोह, अविवेक, पञ्चेन्द्रिय और काम-क्रोधादि पर थोड़े ही समयमें विजय लाभ कर लेगा; इतना ही नहीं किन्तु ज्ञानादि रत्नोंको अपने कब्जेमें करके दुर्गतिसे निकल कर सुगति—पञ्चमी गतिको सिद्ध कर लेगा।

* * * * *

अब सचेत होकर तुझे गुरुके वचन सुनने चाहिए—

इतिअ कालं हुंतो पमाइणिद्दाइगलियचेअण्णो।
जइ जग्गिओसि संपइ गुरुवयणातो ण वेएसि २९

एतावत्कालं भवन् प्रमादनिद्रागलितचैतन्यः।
यदि जागरितोसि संप्रति गुरुवचनात्तु न वेदयासि॥

अर्थात् हे आत्मन्, इतने काल तक प्रमाद-निद्राके वश रह कर तेरी चेतना-शक्ति बहुत ही मुरझा गई; पर अब जब तू जागृत हो गया है तब गुरुके बचनों द्वारा अपने स्वरूपको क्यों नहीं पहचानता!

विवेचन—हे आत्मन्, तू पूर्ण ज्ञानमय होने पर भी अज्ञानी–मूर्ख समझा गया और पूर्ण आनन्द-रूप होने पर भी दुखी-सुखी समझा गया। समझता है, तेरी ऐसी दशा क्यों हुई? इसी प्रमाद-निद्राके कारणसे या गुरुके वचनोंको न सुननेसे। परन्तु जाग कर देख कि तू न नारकी है, न तिर्यंच है और न देव है; किन्तु इन सबसे श्रेष्ठ मनुष्य है। धर्म-श्रवण या गुरु-वचनों द्वारा तुझे यह बात भी ज्ञात हो सकेगी

जिस प्रकार जीवन-रहित वृक्ष या सुगन्ध-रहित फूल निस्तेज–निर्माल्यसे जान पड़ते हैं, उसी प्रकार आत्मा जीवन-तेज बिना निरसत्वसा हो जाता है। इस लिए उसमें जीवन शक्तिका संचार करनेके लिए विषयोंमें रहनेवाले ममत्वभावको–प्रेमको–उस ओरसे निकाल कर आत्म-भावमें लगा दिया जाय तो उसकी शक्ति खिल उठेगी और विषयोंकी खाक होकर फिर वे आत्मा, मन और इन्द्रियोंको बाधा नहीं पहुँचा सकेंगे। यही नहीं, किन्तु उसे फिर विषय-पूर्ण संसारका विष कभी नहीं चढ़ सकेगा। कमल सूर्यमें प्रेम करता है, इसी लिए कीचड़में रहने पर भी कीचड़ उसका स्पर्श नहीं कर सकता, ठीक इसी प्रकार जिसका मन परमात्म-रूप सूर्यमें स्थिर हो गया है, वे संसारमें रह कर भी संसार-कीचड़में नहीं फँसते; किन्तु सूर्यका–परमात्म-रूपी लोकालोक-भास्करका–आनन्द लेते रहते हैं। चिन्ता तो केवल कमलके लिए है कि, सूर्यके अस्त हो जाने पर फिर सारी रात उसे सूर्यके स्मरणमें–ध्यानमें–रहना पड़ता है; परन्तु आत्मामें जब परमात्म-रूप सूर्यका उदय हो जाता है फिर वह कभी अस्त नहीं होता। यही कारण है कि फिर हृदय-कमलको रात्रि होनेका भय नहीं रहता। वह फिर उसका स्मरण ही नहीं, किन्तु सदा अनुभव करता रहता है। फिर उसकी हालत 'नख शिख रहत खुमारी जाकी' के सदृश हो जाती है। वह इसी रसमें लीन होता हुआ जान पड़ता है; कारण कि जागृत होते ही उसे परमात्म-दर्शन होते हैं। अर्थात् इतना ज्ञान होते ही, कि 'मैं कौन हूँ' मैं तो इन शरीरादिकोंका द्रष्टा हूँ ' उसके दुःखका विध्वंस हो जाता है। और इसी रूपमें अपनेको शरीरादिकका द्रष्टा समझ कर आत्माकी ओर जब वह दृष्टि करता है–अपने शुद्ध स्वरूपको देखता है–तब अपने सच्चे स्वरूपमें मिल जाता है; और तब उसे यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि वह स्वयं ही परमेश्वर है। इसी रूपमें उसे अनुभव होता है। वह 'सोहं' रूप हो जाता है। जो एक बार विषयोंके लोभमें पड़ कर उन-

बल, उसके आनन्द, उसके सौन्दर्य और उसके अमरत्त्व आदि अनन्त गुणोंको देख ले। इसके बाद तुझे जो उचित जान पड़े वही करना। देख जिस प्रकार सूर्यमें रात नहीं, उसी प्रकार दिन भी नहीं है; परन्तु पूर्ण प्रकाश है। उसी प्रकार तू जो सृष्टिको अपने ज्ञानमें देख रहा है उसी ज्ञान-रूप तू है—तू सुख-दुःख नहीं है। इसी प्रकार सबल या निर्बल नहीं है; किन्तु पूर्ण बलवान है। इस प्रकार परमात्म-स्वरूप देख कर उसीमें रहनेका यत्न कर। और जो ऐसा न कर सके तो जो पूर्णानन्द-रूप हैं उनमें प्रेम कर ऐसा करने पर भी तू वैसा हो सकेगा। इसके बाद विषयोंमें ममत्त्व भावोंका त्याग कर-उन भावोंको अपने आत्म-स्वरूपमें—राज-स्वरूपमें—अविनाशी स्वरूपमें—आनन्द स्वरूपमें—लगा। ऐसा करनेसे तू अपनेको बहुत उन्नत कर सकेगा। इस प्रकार मनको इन गुणोंमें ही नहीं, किन्तु तू जहाँ चाहेगा वहाँ स्थिर कर सकेगा। जहाँ जितने समय तक स्थिर रखना चाहेगा, वहाँ उतने ही समय तक रख सकेगा। इसी मनको वश करनेके लिए फिर तू साधु-भाव धारण करेगा और अठारह दोषोंको दूर कर पूर्ण पवित्र बनेगा। उपाध्याय भावोंमें रह कर—आत्माके समीपवर्ती होकर—उसके गुणोंको देख सकेगा। आचार्य-भावमें स्थित रह कर अपने स्वरूपमें विलास कर सकेगा। अरहंतभावोंमें स्थित रह कर कर्मोका नाश कर सकेगा और कर्म नाश होने पर सिद्धगति प्राप्त कर सकेगा। इतना जब तू कर लेगा, तब यह कैसे कहा जा सकेगा, कि, तेरा मन स्थिर नहीं रहा। इस लिए अब सचमुच ही तू जागृत हो गया हो तो पहले मन-रूपी युवराजको वश कर और फिर, एक फूँकके द्वारा धातुकी भस्म कर देनेवाले सिद्ध योगीकी तरह आनन्द-भावकी फूँक मार या तप-भावकी आँच दे, जिससे कि 'विषय' अमृत हो जायँ। इसी लिए एक कविने कहा है कि " होय हलाहल अमृत जासे " अर्थात् जिस आत्मानन्दके संबन्धसे विषय-हलाहल भी अमृत हो जाता है।

लिया। परन्तु भरत महाराजने तो श्रीआदिनाथ भगवानके दर्शन कर उनमें अपने मनको स्थिर किया था; इतना ही नहीं, किन्तु वे स्वयं भी 'मरीचि' आदि धर्म-प्रवर्त्तक तीर्थंकर हुए थे। उसमें मन वश करके उनने तीर्थंकर भावको देखा था, उसके दर्शन किये थे, उसकी प्रदक्षिणा की थी। इसी प्रकार तू भी अपने सब भावोंमें भ्रमण करनेवाले जीवको यदि इसी अवस्थामें सिद्ध-सदृश देखे तो तेरा मन भी तेरे वश होगा ही। इस प्रकार जागृत होते ही—मन-रूपी युवराजको वश होते ही—'दृढ़प्रहारी' ने केवलज्ञान और 'चिलाती पुत्र' ने केवल ढाई दिनमें सब सिद्धियाँ और स्वर्ग प्राप्त किया था।

यह जागृति तुझमें इतनी हो जानी चाहिए कि मैं इन्द्रिय और मनका गुलाम नहीं हूँ; किन्तु मैं आत्मा हूँ, संसार-रूप राज्यमें शरीर-नगरका राजा हूँ। 'मन' मेरा युवराज है, विवेक मंत्री है और इन्द्रियाँ मनकी नौकर हैं। इस प्रकार मन वश होते ही फिर वह विवेककी शिक्षा मानने लगेगा। अब रहीं उसकी नौकर इन्द्रियाँ, सो इन्हें भी विषय-विष न पिला कर आत्म-बलसे अपने-स्वरूपकी ओर झुका लेना। ये तुझे संसारमें बड़ी सहायता करेंगी।

* * * * *

तू कैसा था और कैसा हो गया ?—

णाणमओवि जडोविव पहुवि चोरुव्व जत्थ जाओसि।
भवदुग्गे किं तत्थ वससि साहीणसिवणयरे ॥ ३२ ॥

ज्ञानमयोपि जड इव प्रभुरपि चोरवत्त्र जातोसि।
भवदुर्गे किं तत्र वससि स्वाधीनशिवनगरे ॥

अर्थात् हे आत्मन्, तू ज्ञानमय होकर भी जड़के जैसा हो रहा है, प्रभु होकर भी चोरके जैसा हो रहा है; स्वाधीन शिवनगरके होते हुए भी न जाने, क्यों तू भव-दुर्गमें—संसार-कारागृहमें—बस रहा है ?

का गुलाम बन रहा था, वह अब आत्म-स्वरूपका लोभी बन कर त्रिलोक-का प्रभु हो गया। उसे जान पड़ा कि सब बलका, सब सिद्धियोंका, सब शुद्ध-भावोंका, और सब आनन्दका वह स्वयं स्वामी है और ऐसा ही उसे अनुभव होने लगता है।

मनके विषयमें एक कविने प्रभुसे प्रार्थना की कि "प्रभो! मन क्यों वश नहीं होता—वह क्यों नहीं मुझे गिनता? मैं उसके वश करनेका जितना जितना यत्न करता हूँ वह उतना ही उतना दूर दूर भागता है।" यह बात बहुत ठीक है। कुछ लड़के मा-बापकी ला-परवाहीके कारण बड़े शैतान हो जाते हैं और फिर उनकी आज्ञाकी वे जरा भी परवा नहीं करते; यही नहीं, किन्तु घरका सब पैसा बरबाद कर हीरेकी जैसी उज्ज्वल इज्जतको धूलमें मिला देते हैं और दिनरात बाहरके लड़ाई-झगड़े लाकर मा-बापको बड़ी विपत्तिमें डाल देते हैं। ठीक ऐसी ही हालत आत्म-नृपतिके मन-रूपी युवराजकी है। इसने भी पिताके ज्ञान-राज्यमें बे-इज्जती रूप अन्धकार फैला रक्खा है, ज्ञानादि गुण-रूपी रत्नोंकी यह बरबादी कर रहा है, और शरीरको नाना प्रकारके विकारोंसे मदोन्मत्त बना कर, ईर्षा-तृष्णाके कीचड़में फँस कर, आत्माको खूब हैरान कर कर रहा है। इसके लिए सचेत—जागृत—होकर मनके वश करनेकी आवश्यकता है। सो जब तुम उसे आत्मानन्दमें लुभा कर वश करनेके लिए प्यार करने लगोगे तब वह भी तुम्हें साधु-भावोंकी पवित्रतामें, उपाध्यायके आत्म-गुणोंमें, आचार्यके गुणोंका आचरण करनेमें, अरहंत-भावमें स्थिर रह कर कर्मोंका क्षय करनेमें और सिद्ध स्वरूपके प्राप्त करनेमें एकाग्रता प्राप्त करायेगा। और इस प्रकार तुम मनको वश कर आनन्द-रूप अन्तरात्मामें लीन हो सकोगे।

देखो, मनको वश न कर सकनेके कारण भरत महाराजके जीवको कितना भटकना पड़ा था? परन्तु जब वही जीव जागृत हुआ, तब थोड़ी ही देरमें काचके महलमें आत्मज्ञान द्वारा केवलज्ञान तक प्राप्त कर

लिया। परन्तु भरत महाराजने तो श्रीआदिनाथ भगवानके दर्शन कर उनमें अपने मनको स्थिर किया था; इतना ही नहीं, किन्तु वे स्वयं भी 'मरीचि' आदि धर्म-प्रवर्त्तक तीर्थंकर हुए थे। उसमें मन वश करके उनने तीर्थंकर भावको देखा था, उसके दर्शन किये थे, उसकी प्रदक्षिणा की थी। इसी प्रकार तू भी अपने सब भावोंमें भ्रमण करनेवाले जीवको यदि इसी अवस्थामें सिद्ध-सदृश देखे तो तेरा मन भी तेरे वश होगा ही। इस प्रकार जागृत होते ही—मन-रूपी युवराजको वश होते ही—'दृढ़प्रहारी' ने केवलज्ञान और 'चिलाती पुत्र' ने केवल ढाई दिनमें सब सिद्धियाँ और स्वर्ग प्राप्त किया था।

यह जागृति तुझमें इतनी हो जानी चाहिए कि मैं इन्द्रिय और मनका गुलाम नहीं हूँ; किन्तु मैं आत्मा हूँ, संसार-रूप राज्यमें शरीर-नगरका राजा हूँ। 'मन' मेरा युवराज है, विवेक मंत्री है और इन्द्रियाँ मनकी नौकर हैं। इस प्रकार मन वश होते ही फिर वह विवेककी शिक्षा मानने लगेगा। अब रही उसकी नौकर इन्द्रियाँ, सो इन्हें भी विषय-विष न पिला कर आत्म-बलसे अपने-स्वरूपकी ओर झुका लेना। ये तुझे संसारमें बड़ी सहायता करेंगी।

* * * * *

तू कैसा था और कैसा हो गया ?—

णाणमओवि जडोविव पहुवि चोरुव्व जत्थ जाओसि।
भवदुग्गे किं तत्थ वससि साहीणसिवणयरे ॥ ३२ ॥

ज्ञानमयोपि जड इव प्रभुरपि चोरवद्यत्र जातोसि।
भवदुर्गे किं तत्र वससि स्वाधीनशिवनगरे ॥

अर्थात् हे आत्मन्, तू ज्ञानमय होकर भी जड़के जैसा हो रहा है, प्रभु होकर भी चोरके जैसा हो रहा है; स्वाधीन शिवनगरके होते हुए भी न जाने, क्यों तू भव-दुर्गमें—संसार-कारागृहमें—बस रहा है ?

विवेचन—तू कौन है? बिहारी। नहीं, 'बिहारी' तो तेरे इस शरीरका नाम है। तब तू कौन है, मनुष्य। नहीं, मनुष्य भी तेरे शरीरका नाम है। तब क्या, तू पुरुष है? नहीं, पुरुषत्व तो तेरे शरीरका एक चिह्नविशेष है। यह जो तू सब बतला रहा है, वह अविचारसे बतला रहा है। परन्तु जरा विचार कर बतला तो तुझे जान पड़ेगा कि तू बिहारी नहीं, मनुष्य नहीं, और पुरुष नहीं; किन्तु इन सबका जाननेवाला आत्मा है। तुझे यदि इतना ज्ञान हो जाय तो तू जान सकेगा कि ऊपर जिन बातोंका उल्लेख हुआ है, उनका ही नहीं, किन्तु बहुतसी बातोंका जानने देखनेवाला है। घरका, नगरका, देशका, विदेशका, पृथ्वीका, जगत्का, विश्वका, यहाँ तक कि चौदह राजूप्रमाण लोक तथा अलोकका भी जाननेवाला है। [illegible]

ज्ञान है—मनुष्य या पुरुष जाति नहीं। तेरा वेद ज्ञान है—स्त्री-पुरुष-वेद नहीं। इस प्रकार तू ज्ञान ही ज्ञानमय है, फिर न जाने जड़के जैसा क्यों बन गया है! जान पड़ता है यह सब मोहकी महिमा है। उसीके कारण तेरी यह दशा हुई है। जो दृश्य-रूप पर वस्तुयें हैं, उन्हें तूने अपने स्वरूप समझा और ऐसी ही तुझे शिक्षा मिली। ये ही सब बातें तेरी दुर्दशाकी कारण हुईं। परन्तु अब तुझे समझना चाहिए कि, तू चैतन्य है और चैतन्यका अर्थ है—दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय तेरा निज स्वरूप। तू इसीमें विलास करनेवाला है। तू ज्ञान, तेरा देह ज्ञान, तेरी जाति ज्ञान, और तेरा वेद भी ज्ञान ही है, तू ज्ञानमय ही है, तुझमें देह-भाव नहीं है। तू स्वयं ज्ञान-भाव होनेसे ज्ञान-रूप ही है।

इसके बाद कहा है कि—

प्रभुरपि चोर इव जातोऽसि।

प्रभु होने पर भी—स्वामी होने पर भी—तू चोरके जैसा हो रहा है। जिस प्रकार चक्रवर्ती छह खण्डोंका स्वामी—प्रभु—होता है उसी प्रकार तू

भी छह द्रव्योंका प्रभु है। देख, धर्म-द्रव्य तेरी गति-रूपसे सेवा करता है। अधर्म-द्रव्य तेरी स्थिति-रूपसे सेवा करता है। आकाश-द्रव्य तुझे स्थान देकर तेरी सेवा करता है। पुद्गल द्रव्य तुझे जैसा शरीर चाहिए, वैसा ही तेरी सेवामें लाकर उपस्थित करता है, वह फिर एक छोटेसे कीड़ेको लेकर हाथीका ही शरीर क्यों न हो। इतना ही नहीं, किन्तु वज्रवृषभनाराचसंहननके पुद्गलोंको भी लाकर वह तेरी सेवा बजाता है। कालद्रव्य तुझे समय प्रदान करता है और तेरी स्थितिको परिवर्तन-रूप बनाता है, यहाँ तक कि तुझे 'सादि अनन्तपना' प्रदान करता है। और जीव द्रव्य—तू—आत्मा—परमात्मा–इन्द्रों पर तक दया करता है। इस प्रकार भरत महाराजकी भाँति तू छहों द्रव्योंका—सारे जगत्का—चक्रवर्ती सम्राट् है। तेरा बनानेवाला कोई नहीं है; किन्तु तू ही सबका बनानेवाला है। देख, मेरे हाथमें जो कलम है, इसे सुतारके आत्माने इस अवस्था पर पहुँचाया है, और जिस वृक्षकी लकड़ीसे यह बनाई गई है, उस वृक्षको उसके आत्माने प्रकृतिसे पुद्गल-परमाणुओंको ले-लेकर बनाया है। कहनेका मतलब यह कि संसारमें जितनी भी वस्तुयें हैं, उन सबका बनानेवाला एक आत्मा ही है और इसी लिए वह सबका कर्त्ता है—ईश्वर है; और सब द्रव्यों पर विजयलाभ करनेवाला परमेश्वर भी वही है। इतना होने पर भी तू एक चोरके जैसा बन रहा है। आश्चर्य तो यह है कि तू त्रिलोकका प्रभु और तू ही अपनी वस्तुका चुरानेवाला चोर! यह ठीक तो नहीं जान पड़ता, परन्तु क्या किया जाये, अपने स्वरूपको न समझनेके कारण आज तुझे चोर भी कहना पड़ता है; क्योंकि जिन्हें तू अपनी वस्तुयें समझ रहा है, वे तेरी नहीं हैं—तू तो उनका कर्त्ता मात्र है—वे दूसरेकी हैं।

तू भूल कर जैसा लँगड़ा हो गया हो, और धर्म-द्रव्य जब तुझे सहारा दे तब चलने लगे। भूल कर जैसे तेरा पग टूट गया हो और अधर्म-द्रव्य जब तुझे सहारा दे तब तू स्थिर हो सके—बैठ सके। भूल-कर जैसे पर-

[illegible]

वगैरहसे सहायता करे तब तू कुछ कालके लिए रह सके । जैसे जीता हो और कर्मोको करता रहे, तब कुछ सुख प्राप्त कर सके । परन्तु कितना आश्चर्य है कि, तू अपने जीवन-ज्ञानादि प्राणोंको नहीं जानता ।

वास्तवमें आत्माने इन्द्रकी ऋद्धि प्राप्त कर ली है, इस लिए वह वह सृष्टिका कर्त्ता-स्वामी-है और वही सम्पूर्ण कर्मोको जीत कर-तीर्थंकर पद प्राप्त कर-मोक्ष लक्ष्मीका प्रभु होता है और जिसे फिर इन्द्र भी सिर नवाता है । इस प्रकार त्रिलोक-प्रभु आत्माको चोरकी भाँति डर कर क्यों रहना चाहिए; किन्तु उसे चाहिए कि वह गरुड़ पक्षीकी भाँति सदा अपने स्वरूपमें जागृत रहे, मेरुको अपने धैर्यका पाठ पढ़ावे, समुद्रको गंभीरता सिखलावे और सूर्यको प्रकाश करना सिखलावे ।

'जैन' सबके जीतनेवाले हैं, या जिन्हें कर्म या अन्य कोई वस्तु पराजित न कर सके वे ही 'जैन' हैं ।

फिर कहा गया है कि,

भव दुर्गे किं तत्र वससि ?

अर्थात भवदुर्गमें-संसार-काराग्रहमें, जहाँ कि बड़े दुःखसे रहना पड़ता है, तू किस लिए रहता है, जब कि तू स्वाधीन है और मोक्ष नगर तेरी राजधानी है । तुझे सारे लोककी राजधानी मोक्ष ही न प्राप्त करना है । सो जिसकी यह राजधानी है वह आत्मा तो तेरे ही स्वाधीन है । तू ही उसका स्वामी है । कारण मोक्ष आत्मामें ही मिलता है, आत्मासे ही मिलता है और आत्मा ही उसे प्राप्त करता है ।

* * * * *

संसार नष्ट होकर मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है।—

जत्थ कसाया चोरा महवाया सावया सया घोरा।
रोगा दुट्ठभुअंगा आसासरिआ घणतरंगा॥ ३३॥
चिंताटवी सकट्ठा बहुलतमा सुंदरी दरी दट्ठा।
खाती गइअ-नेआ सिहराइं अट्ठमयभेया॥ ३४॥
रअणिअरो मित्थत्तं मणदुक्कडओ सिलातलममत्तं।
तं भिंदसु भवसेलं झाणासणिणा जिअ सहेलं॥ ३५॥

यत्र कषायाश्चौरा महापायाः श्वापदाः सदा घोराः।
रोगा दुष्टभुजंगा आशासरिद् घनतरंगाः॥
चिंताटवी सकष्टा बहुलतमा सुंदरी दरी दृष्टा।
खातयो गतयोऽनेकाः शिखराण्यष्ट मदभेदाः॥
रजनि चरो मिथ्यात्वं मनोदुष्कृततः शिलातलममत्वं।
तद् भिन्दि शैलं ध्यानाशनिना जीव सहेलं॥

अर्थात् जहाँ कषाय-रूपी चोर हैं, महा भयंकर-क्रूर हिंसक जीवोंके जैसी आ पत्तियाँ हैं, दुष्ट सर्पोंके जैसे रोग हैं, अनन्त तरंगमयी नदीके जैसी आशा है, नाना दुःखोंकी भरी वनीके जैसी चिंता है, गाढान्धकार-पूर्ण गुहाके जैसी स्त्री है, खाईके जैसी चार गतिया हैं, शिखरोंके जैसे आठ मद हैं, राक्षसके जैसा मिथ्यात्व है, और शिलाओंके जैसा मनके दुष्कर्मसे उत्पन्न हुआ मोह है; ऐसे दुर्गम संसार-शैलको हे आत्मन्, ध्यान-रूपी वज्रसे तू जितना शीघ्र हो सके चूर्ण-विचूर्ण कर दे।

विवेचन—ऊपर बत्तीसवीं गाथामें कहा गया है कि यह आत्मा संसारका—इन्द्र पद पर्यन्तकी सब ऋद्धियोंका—स्वामी है और त्रिलोककी राजधानीके जैसी शिवपुरीका स्वामी है; परन्तु इन्द्र पुरी तो

संसारके जैसी ही एक प्रकारकी दुर्गति है; और संसारमें नीचे लिखी हुई [illegible] हैं; [illegible] याग [illegible]

इन उक्त गाथाओंमें संसारकी एक दुर्गम पर्वतसे तुलना की गई है और साथ ही यह उपदेश दिया गया है कि इस दुर्गम-विषम पर्वतको ध्यान-रूपी वज्रसे चूर्ण-विचूर्ण कर देना चाहिए।

जिस प्रकार पर्वतमें चोर छुप जाते हैं, उसी प्रकार संसार-पर्वतमें-क्रोध-मान-मान-माया-लोभ रूपी चार चोर छुपे हुए बैठे हैं। ये चोर इस लिए कहे जाते हैं कि सामान्य मनुष्य इन्हें देख नहीं पाते। जिस प्रकार पर्वतमें सिंह, भालू, चीता, बाघ आदि भयानक फाड़-खानेवाले हिंसक जीव रहते हैं उसी प्रकार संसार-पर्वतमें प्राणियों पर नाना प्रकारकी आपद्-विपदायें बड़ी निर्दयताके साथ आक्रमण करती रहती हैं। पर्वतमें जिस प्रकार सर्प हैं, संसार-पर्वतमें उसी प्रकार रोग रूपी सर्प जीवोंको डसनेके लिए मुँह फाड़े हुए हैं। पर्वतमें जिस प्रकार अनन्त तरंगमयी नदी बहती रहती है, संसार-पर्वतमें उसी प्रकार अनेक प्रकारोंके विचारोंसे परि-पूर्ण आशा-रूपी विशाल नदी बहा करती है। जिस प्रकार पर्वतमें दुर्गम घनी अटवी रहती है उसी प्रकार संसार-पर्वतमें नाना प्रकारके कष्टोंके देनेवाली चिन्ता-रूपी अटवी है। पर्वत जिस प्रकार गाढ़ान्धकार-युक्त गुफाओंसे युक्त होता है संसार-प्रर्वत उसी प्रकार गाढ़ अज्ञान-मोह उत्पन्न करनेवाली स्त्री-गुफाओंसे युक्त है। जिस प्रकार पर्वतमें अनेक खाइयाँ होती हैं उसी प्रकार संसार-पर्वतमें चार गतिरूप खाइयाँ हैं। पर्वतके शिखर होते हैं, संसार-पर्वत आठ मद-रूपी शिखरोंसे युक्त हैं। पर्वतमें राक्षस रहते हैं, संसार-पर्वतमें मिथ्यात्व-रूपी राक्षस है। और जिस प्रकार पर्वतमें शिलायें होती हैं, उसी प्रकार संसार-पर्वतमें मोह

रूपी शिला है। आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्, इस संसार-पर्वतको ध्यानमयी वज्र द्वारा–तुझसे जितना जल्दी हो सके–तू चकनाचूर कर डाल!

यत्र कषायाश्चौराः।

जिस संसार-पर्वतमें चार कषायें चोरकी भाँति छुपती फिरती हैं और यह जान पड़ता है कि उनमें क्रोध एक चोरकी तरह तेरा अनन्त ज्ञान-धन चुरा लेनेके लिए तैयार है। पर्वतमें चोर न जाने कहाँसे सहसा निकल कर पथिकको लूट लेते हैं उसी प्रकार यह क्रोध-रूपी चोर जरा भी किसीको खबर न पड़ने देकर निकल आता है और आत्माका ज्ञान-धन हर कर उसे एक अज्ञानी–मूर्ख–पागलकी भाँति बना देता है। क्रोध थोड़े समयके लिए मनुष्यको अपना आपा भुला देता है। क्रोधी मनुष्य मनमें जो कुछ आता है वही बोलने लगता है। अपनी माता-पुत्री-बहिन आदिको एक वेश्याके जैसी गालियाँ देने लगता है। पिता-भाई आदिकी जरा भी लाज-शर्म न रख कर जो मनमें आता है, वही बोल उठता है। वह इतना ही करके बैठ नहीं रहता; किन्तु जिस प्रकार भील आदिक लुटेरे पथिकको बिना मारे उसका धन नहीं हरते उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य ज्ञान, बुद्धि आदिको जलाञ्जलि देकर आत्म-घात तक कर डालता है। जिस प्रकार कुछ चोर ऐसे होते हैं कि वे यात्रियोंकी आँखों पर पट्टी बाँध कर फिर उनका माल-असबाब छीनते हैं उसी प्रकार क्रोध रूपी चोर आत्माके विवेक-चक्षु पर पट्टी बाँध कर उसके ज्ञान-रूप धनको हरता है। क्रोधीको इस बातका बिल्कुल भान नहीं रहता कि मैं किसके सामने बोल रहा हूँ। आखों पर पट्टी बाँधे हुएकी भाँति वह अँधेरेमें पिटता रहता है। और कितने चोर ऐसे होते हैं जो लोगोंके हाथ-पाँव बाँध कर फिर उनका धन चुराते हैं उसी प्रकार कितनी बार जब क्रोध चढ़ता है तब मनुष्य अपने हाथोंकी मुट्ठियोंको

बाँध कर और पावोंको खूब मजबूत गड़ा कर अपना गुस्सा निकालने लगता है।

और चोर जिस प्रकार आँखे निकाल कर, लोगोंको डरा कर उनका धन छीन लेते हैं उसी प्रकार क्रोध भी आँखे निकाल कर दूसरोंको डराता है। जिस प्रकार चोरको देख कर हम लोग थर थर काँपने लगते हैं उसी प्रकार जिसे क्रोध चढ़ता है वह भी क्रोधके मारे थर थर काँपने लगता है। और जिस प्रकार चोर डर बता कर लोगोंकी शान्ति हरण कर लेते हैं उसी प्रकार क्रोधाग्नि भी आत्मामें ज्वाला उत्पन्न कर उसकी सब शान्तिको नष्ट कर देता है। इतना सब कुछ होने पर भी सूर्यके प्रकाशमें चोर चोरी नहीं कर पाते उसी प्रकार आत्मामें ज्ञानका प्रकाश रहते हुए क्रोध नहीं चढ़ सकता—वह उसकी शान्तिको नहीं हर सकता। इसके लिए तू ध्यान रख कि तेरे ज्ञानको कोई हर न सके। अब क्रोध जयके कुछ उपाय भी बतलाये जाते हैं।

आत्मज्ञान—तू अपने ज्ञान-स्वरूपको उपयोगमें ला, तब तुझे जान पड़ेगा कि जिस प्रकार दिनका प्रकाश होने पर चोर भाग जाते हैं उसी प्रकार तेरे ज्ञानमयी प्रकाशके रहते क्रोध-रूपी चोर भी तेरा कुछ बिगाड़ न कर सकेगा। वह अपने आप ही भाग जायगा। तू ज्ञानके द्वारा यह भी जान सकेगा कि क्रोध बेचारा भी क्या करे, वह तो कर्मके वश है और कर्म जैसा नाच नचाता है वैसा उसे नाचना पड़ता है। उस पर जहां तेरी दया और क्षमाकी प्रभा [illegible] कि [illegible] जयगा। चोर रातको चोरी करते हैं, परन्तु उ[illegible] बहुतसे चोर डरते भी हैं।

.. विवेक-प्रदीप—विवेक-प्रदीपसे जहाँ इतना उपयोग लिया गया कि 'मैं कौन हूँ और मेरा कर्त्तव्य क्या है' फिर बेचारे क्रोधको भागते एक क्षण भरकी भी देरी न लगेगी।

इस प्रकार क्रोध-जयके तीन उपाय बतलाये गये। अर्थात् एक दिनके प्रकाशके जैसा आत्मज्ञान होनेसे, क्रोध भाग जाता है; दूसरे आत्म-ज्ञान लाभ किये हुए तीर्थंकर जैसे महापुरुषोंका स्मरण करनेसे हृदय-उपवन परकी बादली धुल कर साफ हो जाती है और फिर क्रोध-रूपी चोर उसके पास नहीं आ पाता; तीसरे—इस प्रकारका विवेक-प्रदीप प्रज्वलित करनेसे, कि 'मैं कौन हूँ, और मेरी जाति क्या है,' क्रोध भाग जाता है। इस प्रकार ये तीन उपाय क्रोध-जय करनेके हैं।

हाँ, इन तीन उपायोंसे क्रोध भाग अवश्य जाता है; परन्तु वह सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। और जब तक वह सर्वथा नष्ट न होगा तब तक फिर आकर खड़ा हो रहेगा। इस लिए जिज्ञासुओंके लिए यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि जब जब विवेक-प्रदीप न रहेगा तब तब क्रोध-रूपी चोर आकर खड़ा रहेगा ही। प्रभु-स्मरण-रूप चाँदनी खिली हुई जहाँ न होगी वहाँ क्रोधरूपी चोरको खड़ा ही समझो। आत्मानुभव-रूप सूर्यका उदय जहाँ न होगा वहाँ क्रोध-रूपी चोर निस्सन्देह सेंध लगावेगा। इस लिए श्रेय यही है कि वह सर्वथा नष्ट कर दिया जाय, जिसके कि पीछा आ ही न सके।

क्रोध-रूपी चोरने इस संसारका, जिसमें मनुष्य-भवका श्रेष्ठ सारपना—मनुष्यत्त्व—समझा जा सकता है, ज्ञान-धन चुरा कर उसे असार बना दिया है। इस लिए हे आत्मन्, तेरे परम-पिता आनन्दघन आदिप्रभुने जिस प्रकार क्रोधको नष्ट किया उसी प्रकार तू भी उसे नष्ट कर। इन्द्रका वज्र जिस भाँति पर्वतको चूर्ण-विचूर्ण कर देता है उसी भाँति शुक्लध्यान-रूपी वज्रसे तू भी क्रोध-रूपी पर्वतको चकना-चूर करदे। इससे तुझमें अनन्त शक्ति प्रगट होगी, अपने आत्माके प्रभावको तू जान सकेगा, लोकालोक प्रकाशक ज्ञानके

प्रकाशित हो जानेसे फिर रात्रिका अन्धकार जो न फेल सकेगा उससे चोर कहीं पर भी स्थान न पा सकेगा और तेरे सारे संसारमें क्रोधका नाम निशान भी रहेगा। इस लिए तू शुक्लध्यान-रूपी वज्र द्वारा क्रोध-चोरके नष्ट करनेमें जरा भी दया न कर। देख कि इस क्रोधने प्रसन्नचन्द्र राजर्षिको लूट कर उनकी कैसी दुर्गति की थी।

उन्होंने हृदयमें चलते हुए कल्पनामय युद्धमें जब मत्रीके मारनेके लिए मुकुट उतारनेको सिर पर हाथ रक्खा और वहाँ मुकुटको न पाया तब उन्हें अपना भान हुआ कि मैं कौन हूँ? मै तो सर्वस्व-त्यागी साधु हूँ, मुझे इन संसार, राज्य, मंत्री, सेना, स्त्री, पुत्र, शरीर आदिसे क्या मतलब? ये सब तो पर वस्तुयें हैं–मेरा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं। मै तो इनका मात्र देखने-जाननेवाला हूँ, और अपने स्वरूपको देखते हुए मैं केवलज्ञानमय हूँ। इस प्रकार स्व-परका भेद विज्ञान होते ही उनका वह क्रोध जल कर, खाक होकर बातकी बातमें उड़ गया। कारण केवलज्ञान-रूप सूर्यका उदय होने पर—लोकालोकको आत्मज्योतिसे प्रकाशित होने पर—फिर ऐसा कोई स्थान नहीं रह जाता जहाँ क्रोध-रूपी चोर छुप कर सके। इस लिए क्रोधको आत्मध्यान-रूपी अग्निसे—शुक्लध्यानाग्निसे—जला कर तुझे अपने आत्म-स्वरूपमें प्रवेश करना चाहिए, जिससे क्रोधको फिर स्थान ही न रहे।

मान—क्रोधके बाद मानका नम्बर है। यह भी संसार-पर्वतमें छुपता हुआ इधर उधर फिरा करता है। पर इसके लिए यह उपमा ठीक नहीं; किन्तु यह कहना चाहिए कि यह ढीट है। क्रोधको जरा दूसरोंकी शर्म रहती है,-कोई जान-पहचानका आदमी आता है तो उसे थाप देकर वह छुप जाता है और बड़ा सीधा-सादा बन कर कोठड़ीमें बैठ रहता है। परन्तु मानमें यह बात नहीं है, वह बड़ा बे-शर्म है—उसे किसीका डर नहीं लगता।

देखो, लोग जो पैसा कमाते हैं, गहना-दागीना बनाते हैं, दान-धरम करते हैं, पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं, यह सब आज कल केवल एक मानके लिए करते हैं। लोग इसके लिए प्रयत्न करते हैं कि हम जाति-पाँति, पंच-पञ्चायतिमें बड़े कहे जाने लगें, सर्व-साधारण हमारी मान-मर्यादा करें, हमें सब कामोंमें आगे आगे बैठावें—आदि जितनी बातें हैं वे सब मानहीके लिए की जाती हैं। मानहीके लिए हम अपने घरोंको सजाते हैं, और मानहीके लिए हम लोगोंको टीम-टाम बतलाते हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों एक दूसरेसे अपनेको श्रेष्ठ बतलानेके लिए मानने सारे संसारहीको मानमय कर दिया है।

जिनके पास पैसा हो और वे यदि मान करें तो उनका मान करना ज्यादा नहीं भी खटकता; परन्तु आश्चर्य है कि संसारमें बहुतसे लोग ऐसे भी हैं जो अपनेको दूसरेसे अच्छा बतानेके लिए पाड़-पड़ोसीसे गहना-दागीना, वस्त्र आदि माँग-मूँग कर अभिमान करते हैं। कितनी स्त्रियाँ, जो गोरी—सुन्दर—नहीं होतीं—पाउडर लगा कर सुन्दर बनने और अपनी बहनोंमें श्रेष्ठ कहलानेके लिए चेष्टा किया करती हैं। राजा मंत्रीसे, मंत्री सेठसे, सेठ सामान्य जनोंसे और सामान्य जन गरीबोंसे अधिक अभिमानी होते हैं; इतना ही नहीं, पर इन गरीबोंमें भी अभिमानके कारण परस्पर भेद-भाव देखने आता है।

विद्यार्थियोंको अपनी पढ़ाई पर अभिमान होता है, और इसी लिए वे यत्न करते हैं कि अपने सह-पाठियोंसे उन्हें अधिक नम्बर मिलें। कितने सभापति मानहीकी गरजसे अपनी वेहद नम्रता जाहिर करते हैं और जब लोग यह कहने लगते हैं कि 'वाह आप कितने नम्र हैं' तब उनकी बातें बड़े उत्कर्ण होकर सुनने लगते हैं। परन्तु उनकी वह नम्रता मानहीके लिए होती है। इस प्रकार यह मान है आत्मन्, तुझे हैरान कर रहा है और सत्य-सरलतासे दूर दूर खींचे लिये जाता है।

सभापति स्वयं इस बातको जानता रहता है कि सभामें बैठे हुए लोगोंसे मुझमें कुछ अधिक ज्ञान है तो भी मानके लिए वह कहता है कि सभामें मुझसे कई अच्छे विद्वान बैठे हुए हैं, उनमेंसे किसीको सभापति बनाया जाता तो अच्छा होता। परन्तु लोग तो जानते ही रहते हैं कि माव सबको खा जाते हैं और इसी लिए फिर वे उसे ही बैठाते हैं। इस प्रकार एक सभ्य शिरोमणि भी फिर मानसे फूल कर कुप्पा हो जाता है।

इतना होने पर भी आत्मा मानसे कहता है—मान, सुन। अब तेरे दिन पूरे हो गये। तेरा अपमान मैं अभी ही करता हूँ।

एक राजा है, एक मंत्री है, एक विद्वान है, एक मूर्ख है, एक धनी है, एक दरिद्री-रंक है, एक कारीगर है, एक धोबी है। इस प्रकार सभी मनुष्य जुदी जुदी श्रेणीके हैं। परन्तु मान, जरा तू विचार करके देख कि जब हम सब लोग सोते हैं तब तू कहाँ छिप जाता है? तब तेरी ढीटता कहाँ चली जाती है? उस समय सब मट्टीके पुतलेके जैसे बन जाते हैं। तब न कोई राजा रहता है, न कोई रंक रहता है, न विद्वान रहता है और न मूर्ख रहता है। सब मनुष्य एकहीसे हो जाते हैं। इस तरह जब हमारे सोनेका समय होता है तब तेरे छिपनेका समय आता है।

इसके सिवा तेरा बल क्रोधसे कहीं अधिक है और वह स्पष्ट है। क्रोध अँधेरेमें और रातमें अपना कार्य करता है और तू, उजेला ही तो अँधेरा करके मदके रूपमें मनुष्योंके धन पर, उनकी विद्या पर, उनकी नीति पर, उनके गुण पर ऐसा हाथ मारता है कि कुछ पूछो मत; और फिर इस प्रकार तुझे उनके वास्तविक धनके चुरानेके जैसी प्रसन्नता होती है। और इसके सिवा तेरी सत्ता भी क्रोधकी अपेक्षा अधिक जान पड़ती है। परन्तु याद रख अब तेरे भी दिन पूरे हो गये। आत्मध्यान-रूपी वज्रके द्वारा-शुक्लध्यानके द्वारा—तू अब बहुत शीघ्र चूर्ण-विचूर्ण कर दिया जायगा और वह ऐसा कि तेरी सत्ता भी लोकमें कहीं न रहने पायगी।

परन्तु हाँ, इसके पहले, कि तू मार दिया जाये, तेरी बे-इज्जती भी कितनी है, उसका तुझे भान करा देना अच्छा है, जिससे कि तुझे अपनी मौत पर दुःख न हो। तू एक निर्धनके आगे सौ रुपये बता कर अभिमान करता है; परन्तु तेरे पास सौ रुपये देख कर हजारवाला तेरा अपमान करता है और इसी तरह आगे आगे हजारवालेका दस हजार–वाला, दस हजारवालेका लाखवाला, लाखवालेका दस लाखवाला, दस लाखवालेका करोड़वाला; इसी तरह बढ़ते बढ़ते सेठका राजा अप–मान करता है, राजाका चक्रवर्त्ती आपमान करता है और चक्रवर्तीको इन्द्रके सामने नीचा देखना पड़ता है। हाँ यह कहा जा सकता है इन्द्र अनन्त स्वर्गकी ऋद्धिका स्वामी है; परन्तु जिनके पास त्रिलोककी ऋद्धि है उनके सामने बेचारे इन्द्रको भी शर्मिन्दा होना पड़ता है। क्योंकि त्रिलोक-प्रभुकी विभूतिके सामने इन्द्रकी विभूतिका कुछ मोल नहीं है। परन्तु इसके साथ ही उनमें एक बड़ी भारी आश्चर्यकी बात है; और वह यह कि इतनी अतुल विभूतिके होने पर भी उन्हें जरा भी मान नहीं है, उन्होंने मानको जड़-मूलसे उखाड़ फेंक दिया है। उनका आत्मा शुक्ल-ध्यानके द्वारा सिद्धोंके जैसा हो गया है।

माया–यह एक चोर स्त्रीके जैसी है। इधर उधर छिपती फिरती हुई भी अपना काम बराबर करती रहती है। पानीसे जैसे कीचड़ धोया जाता है उसी प्रकार सरलता-जलसे माया धोई जा सकती है। यह माया अपना काम कितना ही छिप कर क्यों न करे, परन्तु जिन आत्मामें ध्यानकी ज्योति जग जाती है उनके सामने यह अपने स्वरूपको नहीं छिपा सकती। क्योंकि केवलज्ञानमें सब प्राणिगण, उनके कर्म और सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। इस प्रकार मायाके भी बारह बज जाते हैं। माया, तू कितनी ही चालाक क्यों न हो, पर आत्मासे तू कोई बात छिपा नहीं सकती।

जिस प्रकार क्रोधसे मान बड़ा भयानक चोर है उसी प्रकार मानसे माया भयंकर है। इसमें छिपे रहनेकी बड़ी आदत है। इस आदतके मारे इसका जीतना बड़ा कठिन है। जिस वस्तुको हम जीतना चाहते हैं आवश्यक है कि उसके पहले हम उसे देख लें। इस तरह देखने पर मान जितना प्रकटपने दीखने लगता है उतना क्रोध नहीं दिखाई पड़ता; परन्तु जब कारण मिलने पर वह फूत्कार करने लगता है तब कहीं दिखाई पड़ता है। पर माया तो ऐसी चुड़ेल है कि वह दिखाई ही नहीं पड़ती; उल्टी गहरी गहरी उतर कर अपना काम किये ही चली जाती है। वह जब कभी अपने पुत्र 'ढोंग' के साथ रहती है या अपने स्वामी 'कपट मायणके' साथ होती है तब कहीं कुछ उझकती हुई देख पड़ती है।

इस चुड़ेल-रूपिणी मायाका वध केवल सरलताके द्वारा होता है। उसके लिए यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि जो जो कार्य माया द्वारा किये जाते हैं वे सब सरलता द्वारा किये जायँ। ऐसा करनेसे यह होगा कि मायाको जो खुराक मिलती थी वह अबसे न मिलेगी और इस तरह वह धीरे धीरे निर्बल होकर सर्वथा सूख जायगी। परन्तु इसके साथ ही यह और ध्यानमें रखना चाहिए कि जहाँ जरा चित्त मोहमें फँसा कि बातकी बातमें, यहाँ तक कि शुभ क्रियाओंमें भी यह उसी समय आ-खड़ी होगी और जैसी पहले थी वैसी ही तरो-ताजा हो जायगी। इस लिए उचित है कि शुक्लध्यान द्वारा इसे नष्ट कर दिया जाय; और ऐसा करना ही उत्तम होगा। आत्माके निर्मल ज्ञान-रूपी सूर्य-प्रकाशके द्वारा मायाके बादलोंको नष्ट कर अपनेको निरभ्र–निर्मल–आकाशके जैसा उज्ज्वल बनाना चाहिए। गंगामें स्नान करनेसे जिस प्रकार शरीरका सब मैल धुल जाता है उसी प्रकार मायाका मैल धोनेके लिए सरलता-रूपी गंगाका आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि माया या कपट आत्मासे बात छिपा नहीं सकते। आत्मामें हृदय-बलने जहाँ जरा जोर

पकड़ा कि माया उसी समय नष्ट हो जाती है। सूर्यके प्रकाशकी ज्योतिको माया नहीं सह सकती, वह उसी समय जलकर भस्म हो जाती है और उसकी जगह फिर सौभाग्यवती सरलता आ विराजती है। सरलता बड़े अच्छे स्वभावकी है। वह आत्माके साथ ही रहती है। मात्र विशेषता यह है कि जहाँ माया होती है, या प्रमाद होता है वहाँ इसके दर्शन नहीं होते। इस प्रकार धूर्तके जैसे क्रोधका, ठगके जैसे मानका और चुड़ेलके जैसी मायाका शुक्लध्यानके द्वारा पराजय होने पर एक लोभ पर विजय करना और बाकी रह जाता है।

लोभ सबसे भयंकर है। ऐसा जान पड़ता है मानों क्रोध माना-मायाको इसीके द्वारा जविन मिलता है, और इस लिए जहाँ इस एक प्रबल शत्रुपर विजय-लाभ किया कि बाकी तीन तो फिर बातकी बातमें जीत लिये जाते हैं। जिस प्रकार एक सेनापतिके मर जानेसे सारी सेना भाग छूटती है या निर्बल—निस्सत्व–हो जाती है उसी प्रकार जहाँ लोभरूपी सेनापतिका नाश हुआ कि समझना चाहिए उसके सहकारी क्रोध-मान-मायाका नाश तो हो ही चुका। यह लोभ एक राक्षसके जैसा है, इसे चाहे जितना भी मिले, इसका पेट कभी नहीं भरता। सारा स्वयंभूरमण तो लोभके लिए एक छोटेसे तलावके बराबर है। इतना होने पर भी मायाकी अपेक्षा यह बड़ा भयंकर और बड़ा छुप कर रहनेवाला है। हाँ यह ठीक है कि संतोषको सामने खड़ा कर देनेसे लोभका पतन हो सकता है, परन्तु वह मर नहीं जाता। लोभका पूर्णपने नाश तो सब कषायोंके नाश होने पर ही होता है, और उस नाशके समयको 'क्षीणमोह' गुणस्थान कहते हैं। कर्मग्रंथमें भी इसी प्रकार कहा है। जितने अंशमें संतोष होता है, उतने ही अंशमें लोभ नहीं रहता है और उसमें जहाँ जरा भी भूल हुई कि उसी समय लोभ आकर झटते दाखिल हो जाता है। किसीने दस हजार रुपयेका परिमाण किया—उतनेमें ही संतोष रक्खा, परन्तु

जब उसने देखा कि उससे अधिक रुपया बढ़ने लगा तब वह उस अधिक रुपयेको धर्मकार्यमें खर्च न करके, जहां कि उसे करना चाहिए, अपने लड़केके नाम कर देता है, इस लिए कि लड़केमें उसका मोह रहता है। और किसी तरह उसने उन रुपयेको धर्मकार्यमें भी लगाया तो बड़े अभिमानके साथ! मतलब यह कि एक जगह लोभको जिस प्रकार माया द्वारा सहायता मिली–धर्मकार्यमें खर्च करने योग्य धनको पुत्रके नाम लिख कर मायाचार किया–उसी प्रकार धर्मकार्यमें उस धनको खर्च करने पर जो लोगोंने उसे मान दिया उससे दूसरी जगह लोभको मानसे भी सहायता मिली। इस प्रकार लोभ दिन दिन बढ़ता ही रहता है। इस लिए लोभको ध्यानरूपी वज्र द्वारा सर्वथा नष्ट कर देना चाहिए कि जिससे फिर संसार-पर्वतमें उसका बिल्कुल ही भय न रहे। लोभके नष्ट करनेका यह प्रयत्न इतनी दृढ़ताके साथ होना चाहिए कि इसके साथ ही इसके सम्बन्धी क्रोध-मान-माया भी मौतकी शरणमें पहुँच जायँ।

हो सकता है कि कुछ निर्बल आत्मा इन्द्र-पदकी विभूति देख कर लोभमें फँस जायँ, परन्तु उन्हें जानना चाहिए कि इन्द्र-पद कर्म-जनित है और जड़ है। इस लिए इन्द्रत्वकी इच्छा करनेवालोंको अपने अनन्त-वीर्यको और इन्द्रत्वके वीर्यको देख कर दोनोंकी परस्परमें तुलना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे, उनकी जो इच्छा पहले इन्द्रत्वको चाहती थी वह, अब उसे न चाह कर ध्यान-बलसे अपने अनन्त वीर्यमें ही लगी रहेगी; और इस प्रकार वे लोभको समूल नष्ट कर सकेंगे।

इस प्रकार जब चारों चोर मर जायँगे और उनका जरा निशान भी न रह जायगा तब आत्मामें केवल ध्यान, चारित्र और अपने आपमें लीनता रहेगी। फिर वह निर्लेप रह कर केवलीकी भाँति या तीर्थंकरकी भाँति संसार-पर्वतमें निर्भय–निर्द्वन्द्व–विहार करता रहेगा। कारण अनन्त गुणमय द्रव्यको देखते ही–स्मृति-दर्पणमें उसके दर्शन होते ही–ध्यान-

वज्रके द्वारा लोभ राक्षसका चकना-चूर हो जाता है । प्रिय आत्म-दर्शनके जिज्ञासु, तुझे याद रखना चाहिए कि संसार-पर्वत परसे क्रोध-मान-माया-लोभ-रूपी चोरोंके नाश होते ही संसार-पर्वत भी सदाके लिए फिर निर्भय स्थान हो जाता है ।

फिर संसार-पर्वतके बाबत लिखा है कि—

महापाया श्वापदाः सदा घोराः ।

अर्थात् जिस प्रकार पर्वतमें सिंह, बाघ, भालू आदि हिंसक—क्रूर—जीव निवास करते हैं और जहाँ वे किसी प्राणीको अपने सामने देख पाते हैं कि उस पर एकदम टूट पड़ते हैं उसी प्रकार संसार पर्वतमें भयंकर—क्रूर—आपदायें हैं । वे प्रति दिन बेचारे निरीह मनुष्यों पर बड़ी निर्दयताके साथ आक्रमण करती रहती हैं, और समय पाकर बेचारोंको फाड़ तक खाती हैं । इस लिए अत्यन्त आवश्यक है कि ध्यानाग्नि द्वारा जलाकर ये भस्म कर दी जायें ।

और कषायें तो चोर होनेके कारण छिप कर अपना काम करती हैं; परन्तु ये तो एकदम आकर आक्रमण कर बैठती हैं । ये हमारी शरीर-सम्पत्ति, बुद्धि-सम्पत्ति स्वतंत्रता आदि सभी पर छापा मारती हैं । ये बड़ी भयानक लुटेरियाँ हैं । इतना ही नहीं, किन्तु ये व्याघ्र आदिकी भाँति मनुष्योंके प्राणों तकको हर लेती हैं । उनका सब खून चूस कर उन्हें खाली खोखेके जैसा बना डालती हैं । इन भयानक आपदाओंका नाश किस प्रकार किया जा सकता है, इस बात पर नीचे विचार किया जाता है ।

कुछ लोग कहेंगे कि इनके नाशके लिए इतने विचारकी आवश्यकता ही क्या है, सम्पत्तिके द्वारा तो इनका शीघ्र ही नाश किया जा सकता है । परन्तु यह बात ठीक नहीं है, आपदायें सम्पत्तिके द्वारा दूर तो हो सकती हैं, किन्तु उनका नाश सम्पत्तिसे नहीं हो सकता । देखो,

धनके रहने पर भी आपत्ति शारीरिक विपत्तिके रूपमें आकर मनुष्यको घेर लेती है और उसके सुन वगैरहको चूस कर उसे जर्जरित बना देती है। और कई मनुष्य ऐसे देखनेमें आते हैं कि उनका शरीर तो बड़ा निरोग, सुदृढ़ है, परन्तु बेचारोंको दरिद्रता पिशाचिनी घेरे हुए है। इस पिशाचिनीका आक्रमण ऐसा प्रचण्ड होता है कि फिर बेचारोंका मरने पर ही छुटकारा होता है।

जिस प्रकार तलावका पानी निकाल देने पर उसमेंकी मछलियोंकी जैसी बुरी दशा होती है ठीक वैसी ही आपत्ति, मनुष्योंके हृदय-तलावका शान्ति-जल निकाल कर उसकी दुर्दशा कर डालती है। इस प्रकार आपदाओं पर सम्पत्ति विजय नहीं कर सकती। किन्तु आपदाओं पर विजय पानेका उपाय है, क्षमा या सहनशीलता। जो मनुष्य अपने इन आत्मीय गुणोंको प्राप्त कर सकता है वह निश्चयसे विपत्तियों पर विजय पा सकता है। देखो, खंधक नामके मुनि पर श्रेणिक राजाने घोर उपसर्ग किया; परन्तु मुनिने उसे क्षमा खड्ग द्वारा जीत लिया। गजकुमार पर उनके ससुर सोमलने उपसर्ग किया; श्रीपार्श्वनाथ स्वामीके जीवको मेघमालीने कष्ट दिया; और वीर प्रभु पर संगमदेवने घोर कुवस-वर्षा की; परन्तु इन महात्माओंने अपने पर आई हुई विपत्तियोंको बड़ी सहनशीलताके साथ सह कर शुक्लध्यान द्वारा उन पर विजय किया। जिस प्रकार पर्वत पर वज्र गिरनेसे उसका चूर चूर हो जाता है उसी प्रकार आत्माके अनन्त शक्ति-रूप वज्रके द्वारा विपत्तियाँ चकना चूर हो जाती हैं। देखो, वीर प्रभुने बाघ और सिंहके जैसे दो चोरोंको सहज ही मार डाला था। सच तो यह है कि महापुरुष विपत्तियोंको अपनी अनन्त शक्ति द्वारा एक क्षण-भरमें नष्ट कर देते हैं। चींटी पर एक छोटासा कंकर डाल दे... प्राण नष्ट हो सकते हैं, परन्तु हाथीके जैसे ... ...ियाँ गिर कर भी क्या उसे विच...

जो त्रिलोकको अपनी उँगली पर नचा सकते हैं, मेरुके जैसे अति विशाल पर्वतको जो एक पाँवके अँगूठेसे कँपा सकते हैं और इसी कारण जिनके पराक्रमको न सह कर ही सुमेरु थर थर काँप उठा था; और देवोंके कंधे पर चढ़े हुए जिनका एक साधारण घूँसेको भी न सहकर देव मुट्ठीमें प्राण लेकर भागे थे, उन ध्यानी प्रभुके अनन्त शक्ति-रूप वज्रके सामने कंकेराके जैसी संसारकी विपत्तियाँ किस गिनतीमें हैं ?

'व्याघ्रीव तिष्ठति जरा' जरा शरीरको एक पशुके जैसा समझ कर उस पर वाघिनीकी भाँति आक्रमण करती है। परन्तु जिनका शरीर पुण्यसे वज्रवृषभनाराच-संहननका बना हुआ है उनका वह कुछ नहीं कर सकती। इस बातको छोड़ कर जरा यूरोपके निवासियोंको ही देखो, कि ये प्रायः अस्सी या नब्बे नब्बे वर्षके हो जाते हैं तो भी जराका उन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। फिर जो लोग केवल आत्म-भावमें ही लीन रहते हैं, जो अपनेको ही आत्मवीर्यमय समझते हैं उनके सामने ये जरा या आपदायें जैसी वाघिनें क्या कर सकती हैं; बल्कि उन्हें उल्टा अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठना पड़ता है। देखो, वर्षाके समय भींग न जाय इसके लिए मनुष्य छत्री रखता है और उसके द्वारा वर्षा-विपत्तिसे अपनी रक्षा करता है, जाड़ेके दिनोंमें ठंडसे बचनेके लिए अनेक गरम गरम कपड़े पहनता है, और गरमीके दिनोंमें घामसे अपनी रक्षा करनेके लिए ठंडे घर, छत्री, महीन वस्त्र, सादे पंखे, बिजलीके पंखे, आदि साधनोंको इकट्ठा करता है; परन्तु इस प्रकार बेचारे पशु नहीं कर सकते। उन्हें तो वर्षा, ठंड, गरमी आदि सभी विपत्तियाँ सहनी ही पड़ती हैं। ये विपत्तियाँ दूर की जाती हैं विचार-रूपी शस्त्र द्वारा, सो ऐसा कोई शस्त्र उनके पास नहीं है। और इसी लिए विपत्तियाँ वाघिनके जैसी बन कर उन बेचारों पर आक्रमण कर उनके प्राणोंको हरा करती हैं। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य वाघिनको

शस्त्र द्वारा मार डालता है उसी प्रकार आत्मा यदि इन विपत्ति-वाघिनोंको मार डालना चाहे तो उसे उचित है कि वह चैतन्यमें प्रवेश करके ध्यानके द्वारा अपना आत्म-बल संग्रह कर विचार-शस्त्रका उपयोग करे। इस प्रयत्नके द्वारा वह इनका समूल नाश कर सकेगा। कोई कैसा ही क्रूर या हिंसक प्राणी क्यों न हो, वह जहाँ तीर्थंकरोंकी सभामें पहुँचा कि उनके अतिशयके प्रभावसे अपनी सब क्रूरता भूल कर अपूर्व शान्ति लाभ कर लेता है। ठीक इसी प्रकार इन विपत्ति-वाघिन जैसे क्रूर जीवोंका जहाँ आत्मा-प्रभुसे सामना पड़ा कि वे अपने आप ही शान्त हो जाती हैं। इस लिए इन विपत्तियोंका वज्र बन कर सामना किया जाये तो निस्सन्देह ये चकनाचूर की जा सकती हैं। जिस प्रकार अँधेरा प्रकाशके द्वारा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार विपत्तियाँ आत्म-संयम-प्रकाश द्वारा नष्ट की जा सकती हैं। इस प्रकार संसार-पर्वत पर रहनेवाले चोरोंको मार कर उसे सर्वथा निर्भय बनानेके लिए उसका विपत्ति-दुःख-नष्ट करना चाहिए। तभी वह पूर्ण निर्भय हो सकेगा; और यह आत्माका परम कर्तव्य है।

आगे कहा है—

रोग दुष्ट भुजंगाः

अर्थात् संसार-पर्वत पर दुष्ट सर्पोंके जैसे भयानक रोग हैं। जिस प्रकार सर्पका जहर चढ़ जानेसे मनुष्यका सब तेज नष्ट हो जाता है, यहाँ तक कि वह मर भी जाता है उसी प्रकार इन दुष्ट रोगोंसे भी मनुष्यका तेज नष्ट हो जाता है और बहुधा वह मर ही जाता है। इस लिए काले सर्पोंकी तरह डसनेवाले इन जहरीले रोग-रूपी सर्पोंको भी ध्यान-रूपी वज्र द्वारा मार डालना उचित है।

उपाय।

रोग बाह्य और अभ्यन्तर ऐसे दो प्रकारके हैं। इनके नष्ट करनेको लोग बाह्य औषधिका उपयोग करते हैं; परन्तु उनका यह उपाय क्षणिक

है-इससे चिरस्थाई लाभ नहीं होता। आन्तरङ्गिक उपाय बाह्य उपायसे कुछ अच्छा और रामबाणके जैसा है; परन्तु पूर्ण लाभ उससे भी नहीं होता। इन दो उपायोंके सिवा एक तीसरा उपाय और है; और वह है ध्यान। इसे छोड़ कर अन्य कोई उपाय काम नहीं दे सकता।

रोग नाना प्रकारके हैं। उनमें बहुतोंका उल्लेख वैद्यक ग्रन्थोंमें किया गया है, और साथ ही उनके दूर करनेके लिए नाना प्रकारकी औषधियाँ भी बतलाई गई हैं। परन्तु उनसे सदाके लिए ये रोग नहीं मिटते। और मिट भी सकें तो वे केवल एक जन्म भरके लिए! इसके बाद भी वे कभी न होंगे, ऐसा सर्टिफिकेट वैद्यक-शास्त्र नहीं दे सकते। इतना उनका उपकार अवश्य है कि वे कुछ समयके लिए इन्हें दूर कर देते हैं। गारुड़ी सर्पके जहर चढ़े हुए मनुष्यको छाँछ पिला कर उसका विष दूर कर देता है, इसके लिए उसका हमें धन्यवाद मानना ही चाहिए। वैद्यक-ग्रन्थोंमें नाना रोगोंकी परीक्षा बतलाई गई है और उनके उपाय बतलाये हैं तथा छाँछ पिला कर सर्पके विष उतारनेकी भाँति रोग दूर भी किये गये हैं। इतना सब कुछ होने पर भी भूख-रूपी रोगको आज तक किसीने दूर नहीं कर पाया। इस रोगको नष्ट करनेके लिए लोगोंने अन्न-रूपी औषधिकी तजवीज की, परन्तु वह तत्कालके लिए ही लाभदायक सिद्ध हुई। परिणाम यह हुआ कि प्रतिदिन इस दवाका सेवन करना ही चाहिए तभी थोड़ी बहुत शान्ति कुछ समयके लिए हो सकती है। अन्नौषधि द्वारा भूख-रोगकी सदाके लिए शान्ति न देखी गई और न सुनी गई। परन्तु हाँ तत्कालके लिए जो यह हमारे रोगकी शान्ति कर देती है इसके लिए हमें उसका उपकार मानना ही चाहिए। आठ दस घंटे तक उसकी सहायतासे हम तब भी जीवित रहते हैं।

दूसरा ऐसा ही एक रोग है जरा। डाक्टर या वैद्य लोग इसे अब तक नहीं मिटा सके और न कोई ऐसी दवा ही अब तक शोध निकाली गई।

संभव है कोई मात्रा द्वारा वैद्य लोग कुछ साधारण लाभ इस रोगमें पहुंचा सकें; परन्तु इस बातका विश्वास वे कभी नहीं करा सकते कि यह रोग किसी को होगा ही नहीं। मात्राके द्वारा, जैसा कि ऊपर कहा गया गया है, कुछ लाभ पहुँच सकता है; परन्तु साथ ही दूसरी विपत्ति और बढ़ जाती है। उससे भूख-रोग उल्टा बढ़ जाता है। तब यह हुआ कि एक व्याधि मिटी और दूसरी सिर पर आकर खड़ी हो गई।

जन्म-मरण ये एक ऐसे भयंकर रोग हैं कि इन्हें कोई दूर न कर सका; और न किसीको इनका उपाय ही मिला। इसके सिवा यह भी बात है कि इनके दूर करनेके उपायोंकी वैद्यों या अन्य लोगोंने खोज भी नहीं की। इन रोगोंके मिटानेके उपायोंकी खोज की है नीति शास्त्रने। वह कहता है कि तुम यदि मृत्युको नहीं चाहते तो किसी जीवको मारो मत—किसी-के प्राणोंको न लो। प्रकृतिके नियमके अनुसार जो जीव मात्रकी रक्षा करेंगे—उन्हें कभी नहीं मारेंगे—तो वे जीव भी, जिनकी कि वे रक्षा करेंगे, उन्हें कभी नहीं मारेंगे। जन्म-रोग मिटानेके लिए किसी नीति-शास्त्रमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्य धारण कर दूसरोंको जन्म देना—उत्पन्न करना—बंद करो तो तुम्हारा भी जन्म होना बंद हो जायगा।

भूख-रोग मिटानेके लिए उपवासोंके करनेका अभ्यास करो। प्रारंभमें समव है, भूख और अधिक जान पड़े; परन्तु धीरे धीरे उसके मिटानेका अभ्यास करते रहनेसे वह मिट जायगी—और फिर तुम सर्वथा आहारका परित्याग कर सकोगे।

इस प्रकार इन रोग-रूपी सर्पोंके डंक दूर करनेका वैद्यक-शास्त्र, नीति-शास्त्र, व्यवहार-शास्त्र तथा धर्म-शास्त्रने थोड़ा-बहुत यत्न किया; परन्तु ऐसे स्थिर उपायोंका अभी किसी शास्त्रको पता नहीं लगा जिनसे कि ये रोग अनन्त कालके लिए मिट जायें अर्थात् जन्म-जरा-मरण तथा भूख-ज्वर आदि रोग किसीको भी कभी न हों।

परन्तु हाँ, तीर्थंकर प्रभुने एक ऐसा उपाय बतलाया है और वह ऐसा रामबाण उपाय है कि उससे न केवल ये रोग-रूपी सर्प नष्ट ही हो जाते हैं, किन्तु संसार भरसे इनका काला मुँह हो जाता है। वह उपाय है आत्म-ज्ञानके साधन शुक्लध्यानकी प्राप्ति। इसे प्राप्त कर लेनेसे फिर ये रोग लीलामात्रमें—बातकी—बातमें नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह ध्यानरूपी महोषधि ही ऐसी है जो इन रोगोंको सदा सर्वदाके लिए मिटा सकती है।

जिस प्रकार महा ज्ञानके—केवलज्ञानके—प्रकाश द्वारा कषाय-रूपी चोर नष्ट हो गये, पूर्णानन्द स्वरूप आत्म-बलके द्वारा विपत्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गई उसी प्रकार तीर्थंकर प्रभुके बताये उपायको कामको काममें लानेसे तुम भी अमरत्व लाभ कर सकोगे—तुम्हारे जन्म-जरा-मरण आदि सब रोग नष्ट हो जायँगे।

देखो, जहाँ तुमने अपना पूर्ण ज्ञानमय स्वरूप अपने आपहीमें देखा कि तुम्हारा अज्ञान नष्ट हो जायगा, और जराके नष्ट हो जानेसे तुम्हारी अक्षयस्थिति हो रहेगी। आत्माने अपने स्वरूपको पहचाना कि इसी तरह सब ही रोग नष्ट हो जायँगे।

इस प्रकार संसार-पर्वत कषाय-रूपी चोरोंके नष्ट हो जानेसे निर्भय, हिंसक—क्रूर—जीवोंके चले जानेसे अहिंसक और रोगोंके नष्ट हो जानेसे निरोग हो जाता है।

चिन्ताटवी सकष्ट।

और यह संसार-पर्वत नाना प्रकारके कष्टोंको देनेवाली चिन्ता-रूपी अटवीमें आकर फँस जाता है। जब मनुष्य इस चिन्ता-रूपी अटवीमें आकर फँसता है तब इससे निकलना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। एक फारसी कविने कहा है कि—

" यके मुर्गीदिदं न पायो न पर,
न यजकमे मादर न पुश्ते पिदर;

न बर आसमाने न जेरे ज़मीं,
हमेशा खुरद गोश्ते आदमीं।

मतलब यह है कि कवि कहता है, "मैंने एक ऐसा पक्षी देखा है कि जिसके न पँख हैं और न पर, न मा है और न बाप; और न वह जमीन पर चलता है और न आकाशहीमें उड़ता है; परन्तु तो भी वह मनुष्यको नोंच नोंच कर खा रहा है।" सचमुच ही यह चिन्ता-रूपी पक्षी ऐसा ही है। मनुष्य इसी चिन्ताटवीमें आकर फँस जाता है।

देखो, संसारमें कितने ऐसे मनुष्य हैं जिन्हें दूसरोंसे कुछ लेना-देना न हो तो भी वे उनकी चिन्ता किया करते हैं, जिसे कि हम निन्दा कहते हैं। बेचारे दिन रात दूसरोंके दोषोंके देखनेमें ही गर्क रहते हैं। सोचते हैं अमुकमें यह दुर्गुण है, अमुकमें यह दोष है। इस प्रकार वे घोर अन्धकारमय चिन्ताके किलेमें पड़े रहते हैं। किसीको कुटुम्बकी चिन्ता रहती है, किसीको धन-दौलतकी चिन्ता रहती है, किसीको स्त्री-पुत्रकी चिंता रहती है और कोई मोह-चिन्तामें डूबे रहते हैं। संसारमें ऐसे बहुत ही थोड़े लोग मिलेंगे जिन्हें आत्म-चिन्ता हो अर्थात् जिन्हें यह विचार होता हो कि मेरा क्या है, और पर क्या है। इस प्रकार प्रायः सब ही इस संसार-रूपी पर्वतमें चिन्ताटवीमें भटकते फिरते हैं। जो हो, इसमें सन्देह नहीं है कि यह चिन्ताटवी बड़ी ही दुर्गम है, परन्तु इसका भी ध्यान-रूपी वज्र द्वारा नाश किया जा सकता है और वह भी एक क्षणमात्रमें। क्योंकि ध्यानी आत्मा विचारता है कि, मैं स्वयं ज्ञान-स्वरूप हूँ, और पर वस्तुका जाननेवाला हूँ तो फिर मुझे चिन्ता किस बातकी? अनन्त-ज्ञानके लिए ऐसी कौनसी वस्तु अलभ्य है जिसके लिए कि मुझे चिन्ता करनी पड़े!

बहुलतमा सुन्दरी दरी।

इस संसार-रूपी पर्वतमें घोर अन्धकारमय गुफाओंके जैसी स्त्रियाँ हैं। जिस प्रकार गुफायें अन्धकार पूर्ण होती हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी मोहा-

न्धकार पूर्ण होती हैं। इस लिए इन अन्धकार-पूर्ण गुफाओंके जैसी स्त्रियोंसे दूर रहना चाहते हो तो शुक्लध्यान-रूपी वज्रके प्राप्त करनेका यत्न करो। उससे तुम अनन्त ज्ञानादि गुणोंका आलिङ्गन कर अपूर्व आनन्द प्राप्त कर सकोगे।

खातयोऽनेका गतयः।

इस संसार-रूपी पर्वतमें गति-रूप अनेक खाइयाँ हैं। इन खाइयोंमें यदि तुम गिरना नहीं चाहते तो ध्यान-रूपी वज्र द्वारा संसार-रूपी पर्वतको तोड़-फोड़ कर, शरीरादिके मोह-रूप पत्थरोंसे उसे पूर दो। क्योंकि मोह भावके नष्ट हो जानेसे शरीरादिक भाव फिर इन गति-रूपी खाइयोंमें ही रह जायँगे और तुम ध्यान द्वारा आत्म-स्वरूपमें लीन होकर लोक-शिखर पर विराज जाओगे।

और पर्वतके जैसे शिखर होते हैं वैसे ही इस संसार-पर्वतके भी आठ मद-रूपी शिखर हैं। वे ये हैं—ज्ञानका मद, पूजा-प्रतिष्ठाका मद, कुलका मद, जातिका मद, बलका मद, धन-दौलतका मद तपका मद और शरीरका मद। इन्हें भी तू ध्यान-रूपी वज्र द्वारा चकना-चूर कर डाल। तेरी अनन्त शक्तिके सामने इनका तोड़ देना कोई बड़ी बात नहीं। अनन्त वीर्य प्राप्त करनेवाले तीर्थंकर प्रभुके पास इनकी कुछ नहीं चल सकती। संसारकी कोई वस्तु उन प्रभुकी तुलना नहीं कर सकती। क्या केवलज्ञानसे बढ़कर कोई कला है? अनन्त वीर्यसे बढ़ कर कोई बल है? आत्माके अनन्त सौन्दर्यसे बढ़ कर मुरदेके जैसे शरीरकी सुन्दरता क्या अधिक हो सकती है? नहीं। इस लिए तुझे उचित है कि तू ध्यानके द्वारा अपने स्वरूपको पहचाने। उसकी सहायतासे ये मद-रूपी शिखर बातकी बातमें टूट सकेंगे। और तू इस संसार-पर्वतके शिखरोंसे भी अनन्त गुणे ऊँचे सिद्ध-रूप लोक-शिखर पर विराज सकेगा।

रजनीचरो मिथ्यात्वं ।

जान पड़ता है इस संसार-पर्वतकी देख-रेख करनेवाला एक राक्षस है। वह है मिथ्यात्व। इस भयंकर राक्षसको भी ध्यान-वज्र द्वारा मार डालना उचित है। सोच कि तू इस दृश्य जगत्-रूप है या इसका जाननेवाला ज्ञानमय है। जो लोग अपने स्वरूपको न जान कर अपने ज्ञान-रूप 'सोहं' तत्त्वमें शरीरादिककी कल्पना करते हैं वे भ्रममें पड़े हुए हैं। इस भ्रमको दूर कर तू जब अपना ज्ञानमय स्वरूप जान लेगा तब मिथ्यात्व नष्ट होकर उसी समय सम्यक्त्व हो जायगा।

मनोदुष्कृततः शिला-ममत्वं ।

पर्वतमें शिलायें होती हैं, उसी प्रकार संसार-पर्वतमें ममत्व-भाव-रूपी शिलायें हैं। पर वस्तुओंमें मोह करनेसे संसारमें होनेवाले ममत्व-भावका ध्यान-रूपी वज्र द्वारा नाश किया जा सकता है। इसलिए तू पर वस्तुओंसे ममत्व हटा कर अपने ज्ञान-स्वरूपमें, जो कि सदा स्थिर रहनेवाला है, ममत्व-प्रेम-कर। इससे पर वस्तुमें होनेवाला मोह-भाव नष्ट होकर समभावकी प्राप्ति हो सकेगी।

इस प्रकार जब तू ध्यान-रूपी वज्र द्वारा संसार-पर्वतको चूर्ण-विचूर्ण कर डालेगा तब क्रोध-मान-माया-लोभ-रूप चोर भाग जायँगे और उनकी जगह क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष-रूपी साहूकार आकर बस जायँगे। इसी प्रकार विपत्तिकी जगह सम्पदा, रोगकी जगह निरोगता हो जायगी। अनन्तरंग व्याधि-रूपी नदी सूख कर उसकी जगह आत्मीय पूर्ण सुखामृतकी नदी बह उठेगी। चिन्ता-रूपी अटवीकी, जगह शान्तिका साम्राज्य फैल जायगा। स्त्रीकी जगह समाधि प्राप्त होगी। लक्ष्मीकी जगह अनुभव-लक्ष्मी प्रगट हो जायगी। इसी प्रकार चार गतियाँ नष्ट होकर उनकी जगह पाँचवीं सिद्ध गति प्राप्त होगी। मदकी जगह अनन्तवीर्य, मिथ्यात्व-राक्षसकी जगह सम्यक्त्व प्राप्त होगा।

और सम्यक्त्व-भाव-रूपी शिलाकी जगह सिद्ध-शिलारूप 'सोहं' भावकी प्राप्ति होगी। इस लिए ध्यान-वज्र द्वारा इस पर्वतके तोड़नेका यत्न करना उचित है।

जब तेरी आत्मामें ध्यान द्वारा यह भावना होगी, कि मैं ज्ञानमय हूँ और इस ज्ञानमें चौदह राजू-प्रमाण लोक, छह द्रव्य, नव तत्त्वोंका प्रतिभास होता है, तब इस पर वस्तु-रूप संसारका एकदम चकना-चूर हो जायगा। और इसीके साथ कर्म-रूपी पर्वत भी नष्ट होकर उसके पीछे की ओर मोक्ष-मार्गमें चलते हुए शुद्ध आत्माके दर्शन होंगे। इस लिए हे आत्मन्, मनुष्योंको कैवल्य प्राप्त करानेवाले शुक्लध्यानका साधन कर।

* * * *

आत्मज्ञान और अन्य ज्ञान—

जत्थत्थि अप्पणाणं णाणं वियाण सिद्धि सुहयं तं।
सेसं बहुपि-अहियं जाणसु आजीविआमित्तं॥

यत्रास्त्यात्मज्ञानं ज्ञानं विजानी हि सिद्धिसुखदं तत्।
शेषं बह्वपि—अहितं जानीहि आजीविकामात्रं॥

अर्थात्—जहाँ आत्मज्ञान है वहीं सिद्धि-सुख है। बाकी और ज्ञान तो आत्माका अहित करनेवाले हैं या केवल जीविका-निर्वाहके साधन हैं।

विवेचन—बहुत भी व्याकरणका ज्ञान हो, परन्तु जितना शुद्ध भाषण आत्म-ज्ञान होने पर किया जा सकता है उतना व्याकरण-ज्ञानसे नहीं। इसी प्रकार न्याय-शास्त्र चाहे जितना पढ़ लिया जाय, परन्तु जितना युक्ति-संगत—नय-पूर्वक—आत्मज्ञान होने पर बोला या लिखा जाता है उतना केवल न्याय-शास्त्र पढ़ लेने पर बोला या लिखा नहीं जा सकता। क्योंकि आत्मज्ञानमें सब नये गर्भित रहती हैं। आत्मज्ञानके बिना और सब ज्ञान संख्या-रहित शून्यके जैसे हैं। उन शून्य-रूप ज्ञानोंको सार्थक करनेवाला [illegible] न ही है। इस लिए पहले आत्मज्ञान

प्राप्त करके फिर अन्य ज्ञान प्राप्त करने चाहिए । जिससे वे सब सार्थक हो सकें; और संख्या रहने पर जैसे शून्यका उत्तरोत्तर मूल्य बढ़ता जाता है वैसे ही उन ज्ञानोंका भी मूल्य बढ़ता जाय ।

आत्मज्ञानकी तुलना कोई ज्ञान नहीं कर सकता । इस लिए पहले आत्मज्ञान ही प्राप्त करना चाहिए। आत्मज्ञान प्राप्त करने पर तुम्हारे हाथ एक ऐसी अपूर्व चीज लग जायगी जो त्रिलोककी ऋद्धि प्राप्त करानेवाली है । इसके बाद आत्मस्थित परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए उससे तुम त्रिलोक-शिखर पर अनन्त-अनुपम सिद्ध-साम्राज्यके भोगने वाले होकर अनन्त आनन्दमें निमग्न हो जाओगे ।

आत्मज्ञानके विना पढ़ना कैसा है ?—

सुबहु अहीअं जह जह तह तह गव्वेण पूरिअं चित्तं
हिअप्पवोहरहिअस्स ओसहादूठिओ वाही ॥ ३७ ॥

सुबहु अधीतं यथा यथा तथा तथा गर्वेण पूरितं चित्तं ।
हृदयात्मबोधरहितस्य औषधादुत्थितो व्याधिः ॥

अर्थात्—ज्यों ज्यों अधिक अधिक पढ़ते हैं त्यों त्यों अभिमानसे हृदय भर जाता है । आत्मज्ञान-रहित मनुष्यके लिए यह एक प्रकार औषधसे उत्पन्न हुएके रोगके जैसा है ।

विवेचन—' ढोलके अन्दर पोल ' की कहावत जग-जाहिर है ठीक यही हालत आत्मज्ञान-रहित मनुष्यकी है । विना आत्मज्ञानके मनुष्य कितना ही पढ़े लिखे, ज्ञान प्राप्त करे; परन्तु उसका वह सब प्रयत्न उक्त कहावतके जैसा ही है । हमारे पास पानीका भरा घड़ा पड़ा है, परन्तु यदि हम उसमेंसे पानी लेकर पीनेका यत्न न करें और पानी पानी चिल्लाया करें तो उससे हमारी प्यास नहीं बुझ सकती; ठीक इसी तरह आत्मज्ञान हमारे पास रहते हुए भी उसकी प्राप्तिके लिए कुछ प्रयत्न न कर हम ज्ञान ज्ञान चिल्लाया करें और हमें इस बातका ज्ञान न हो कि

हम स्वयं ज्ञान-स्वरूप है तो उससे सत्यार्थ ज्ञानका अनुभव कदापि नहीं हो सकता। इसी लिए आत्मज्ञान-रहित चौदह पूर्वके ज्ञानको भी व्यर्थ बतलाया गया है। सब ज्ञानोंमें श्रेष्ठ एक आत्मज्ञान ही है। जो तपस्या आत्मज्ञानके बिना मान-रूपी हाथी पर सवार हो रहती है वही आत्मज्ञानके होते ही झटसे मान-रूपी हाथी परसे उतर पड़ती है, और वह आत्मज्ञान फिर कैवल्यके रूपमें परिणत हो जाता है। इस लिए अभिमानी बनानेवाले ज्ञानको छोड़ कर पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए, और बाद अन्य ज्ञान। आत्मज्ञान निर्मल-शुद्ध-होनेके कारण वह बहुत ही हलका है और इस लिए वह गर्व उत्पन्न न कर विवेकको जाग्रत करता है, सब प्रकारके विनयोंका पात्र बनाता है। यदि तुम ऐसा न करोगे तो जिस अज्ञान-रोगके दूर करनेके लिए ज्ञानका उपयोग किया जाता है उसकी जगह फिर अज्ञान बढ़ कर तुम्हें खूब गर्विष्ट-अभिमानी-बना देगा। और ऐसा होनेसे जो कहीं अनन्तानुबन्धी रोग हो गया तो फिर उसका मिटना बड़ा ही दुःसाध्य हो जायगा। इस लिए पहले आत्मज्ञान प्राप्त कर पीछे अन्य ज्ञान प्राप्त करने चाहिए। ऐसा करनेसे वे अन्य ज्ञान एक तो बड़ी आसानीसे प्राप्त हो सकेंगे, दूसरे फिर वे आत्माको अभिमानी न बना सकेंगे।

* * * *

आत्मज्ञानके बिना उपदेश करना व्यर्थ है—

अप्पाणमवोहंता परं विवोहंति केइ तेवि जडा।
मण परियणम्मि छुहिये सत्तागारे किं कज्जं ॥ ३८॥

आत्मानमवोधयन्तः परं विबोधयन्ति के च तेपि जड़ाः।
भण परिजने क्षुधिते सत्रागारे किं कार्यं ॥

अर्थात्—वे लोग बड़े ही मूर्ख हैं—जड़ हैं—जो स्वयं आत्मज्ञानके बिना दूसरोंको आत्माके बतानेका यत्न करते हैं। भला उन्हें बतलाना चाहिए कि अपने कुटुम्बके लोगोंको भूखे मरने देकर दानशाला खोलनेसे लाभ?

विवेचन—जितना कुछ ज्ञान है वह सब आत्माके लिए है, पर हे आत्मन्, तू उसे दूसरोंको देनेवाला नहीं, इस लिए कि वह तेरे पास नहीं है। फिर भी तू उसकी दानशाला खोलना चाहता है यह कैसा आश्चर्य है! इस लिए तुझे उचित है कि तू दूसरोंको उपदेश करनेके पहले स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त करे। इसके बाद तू दूसरोंको उपदेश करनेका यत्न करेगा तो तेरा वह ज्ञान-दान बड़ा सार्थक कह लायगा। कितने लोग, जिन्हें कि स्वयं आत्मज्ञान नहीं होता, दूसरोंको आत्मज्ञान करानेका यत्न करते हैं, परन्तु उनका वह यत्न भोजनमें करनेके लिए बुलाये हुए अतिथिके सामने खाली थालि रख देनेके जैसा है। इस लिए उपदेशकोंको स्वयं पहले आत्मज्ञान लाभ कर फिर उसे दूसरोंको देनेका यत्न करना चाहिए। सब ज्ञानमें यही ज्ञान मुख्य है—केवलज्ञानका कारण है, और इसी ज्ञानमें त्रिलोक झलकने लगते हैं। इस ज्ञानके प्राप्त होते ही जान पड़ेगा कि तेरे पास ज्ञानादिके अनन्त खजाने भरे पड़े हैं। इन खजानोंमेंसे न केवल 'किमिच्छक' दान ही, किन्तु सदा-सर्वदा ही दिया जाया करे तो भी वे जैसेके तैसे भरे हुए रहेंगे। कारण ज्ञान देनेसे कम नहीं होता। वह परम्परा-रूपसे एक दूसरेको चाहे कितना ही दिया जाये, परन्तु कम नहीं होनेका। कल्पना करो कि हमने किसीको चार सवाल करना सिखलाया सो उसे सिखानेसे न तो हमारे पास सवाल कम हुए और उसने जो किसी औरको सिखाये, सो न उसके पास ही कम हुए; बल्कि सवाल सीखनेवालोंकी ही उल्टी संख्या बढ़ी। यही हाल आत्मज्ञानका है, जो वह किसीको देने पर भी कम नहीं होता।

जो मनुष्य स्वयं भूखा है और उसके घरके लोग भी भूखे हैं और ऐसी हालतमें वह दानशाला खोल कर अन्य लोगोंसे जाकर कहे कि चलिए मैं आपके भोजन कराता हूँ तो उसका यह कहना शब्द मात्र है—व्यर्थ है। शब्द मात्रसे किसीकी तृप्ति थोड़े ही हो सकती है? किन्तु इसके विपरीत जो

मनुष्य स्वय परितृप्त है, परिजनोंको भी तृप्त करता है और उसके पास और बहुतसी भोजन-सामग्री तैयार है तो वह बड़ी अच्छी तरह अन्य लोगोंको भी भोजन करा सकता है । इसी प्रकार जिसके पास अनन्त आत्मज्ञान है और जो अपने शिष्योंको बड़ी उदारताके साथ उसे दे रहा है औरोंको भी दे सकता है । वही महा पुरुष ज्ञानमयी दानशाला खोल कर, सबको अमृत प्रदान कर जीवन-मुक्त बना सकेगा । और अन्तमें सिद्ध पदका अधिकारी बना सकेगा।

* * * *

प्रतिदिन दूसरोंको प्रबोध देने पर भी सिद्धि क्यों नहीं होती ?–

बोहंति परं किं वा मुणंति कालं खरा पठंति सुअं ।
ठाण मुअंति सयावि हु विणा य बोहं पुण ण सिद्धि२९

बोधयन्ति परं किं वा जानन्ति कालं खरा पठन्ति श्रुतं ।
स्थानं मुंचंति सदापि हि विना च बोधं पुनर्न सिद्धिः ॥

अर्थात्—कितने लोग दूसरोंको प्रबोध देते हैं, कालका स्वरूप जानते हैं, सूत्र पढ़ते हैं, और घर-बार छोड़ देते हैं; परन्तु आत्मज्ञान बिना उन्हें कुछ सिद्धि नहीं होती ।

विवेचन—मनुष्य समयका चाहे जैसा ज्ञाता हो, और उसीके अनुसार सोच-विचार कर काम करनेवाला हो; परन्तु जब तक उसे आत्मज्ञान नहीं होता तब तक उसका वह समय-ज्ञान कार्यकारी नहीं । वह अपना परमार्थ नहीं सुधार सकता । सदा-सर्वदा उसे बाह्य झंझटोंमें फँसे रहनेके कारण उसकी हालत उस मनुष्यके जैसी हो जाती है जो पुरुषत्त्व-हीन है । जिस प्रकार पुरुषत्त्व-हीन मनुष्य सन्तान पैदा नहीं कर सकता उसी प्रकार उसकी आत्मशक्ति इतनी शिथिल पड़ जाती है कि वह कुछ नहीं कर पाता । और इसी लिए उसे फिर आत्मज्ञानमें तन्निन रह जाता।

जाननेवालोंकी दशा होती है। बहुतसे कर्म-ग्रन्थ पढ़े हुए होने पर भी एक आत्मज्ञान न होनेके कारण लोग हत-वीर्य होकर निराश हो जाते हैं और दूसरोंको भी कमजोर-निर्बल-बना देते हैं। ऐसे लोग कहने लगते हैं कि क्या करें भाई, कर्म बड़े बलवान हैं, कुछ नहीं करने देते। यद्यपि वे जैन होते हैं, जिनके-कर्मोंके जीतनेवालेके-पुत्र होते हैं तो भी एक पराजितकी भाँति कर्मोंसे हार जाते हैं। और होना चाहिए था उन्हें कर्मोंके हरानेवाले। परन्तु ऐसा होना वे नहीं जानते, इसी कारण इस प्रकार कर्मोंका रोना रोया करते हैं।

वे सूत्रोंको जानते हैं, पर सूत्रोंमें जैसा आत्माका स्वरूप बतलाया गया है उसे नहीं जानते। उनका यह जानपना ठीक नक्शेमें देखे हुए एक शहरकी तरह है। जिस प्रकार उन्हें किसीने नक्शेमें शहर दिखला दिया और उसे उन्होंने देख लिया उसी प्रकार वे सूत्रोंको जानते हैं; परन्तु जैसा उन्होंने स्वयं उस शहरको नहीं देखा है उसी प्रकार वे आत्माको भी नहीं देख पाते। तब फिर उनका वह सूत्रोंका जानपना काम ही क्या आया ! आत्मज्ञान सूत्र-ज्ञानकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है, कारण सूत्रोंको आत्माने ही बनाया है। जिस आत्माने इन सूत्रोंको बनाया उसने पहले आत्मज्ञान प्राप्त कर पीछे इनको बनाया और हम लोगोंके लिए उपदेश भी यही किया है कि पहले आत्मज्ञान प्राप्त करो और बादमें अन्य ज्ञान। तभी तुम सूत्र-ज्ञानकी सफलता लाभ कर सकोगे। सूत्रोंमें कहा है कि आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है।

इसी लिए आत्मज्ञानियोंने कहा है कि पहले आत्मज्ञान हो और बादमें क्रिया, पहले ज्ञान और बादमें व्रत-ग्रहण। ऐसा करनेसे यह बात ठीक ज्ञात हो जाती है कि आत्मज्ञान कितना हित करता है। परन्तु जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों ही पुरुषत्व-हीन हो, वहाँ आत्मज्ञान हो ही कैसे सकता है। मात्र ढोंग करनेके लिए शास्त्र पढ़े जाते हैं, त्याग किये जाते ... धारण किये जाते हैं। परन्तु ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि

स्व-वस्तुकी बिना प्राप्तिके पर वस्तुका परित्याग नहीं किया जा सकता, और पर वस्तुके त्यागके विना जितना भी कुछ त्याग किया जाता है वह एक रूपमें त्याग कर दूसरे रूपमें उसे ग्रहण करनेके सदृश है। इस लिए पहले स्व-वस्तु—आत्मा-को जानना चाहिए। अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाने पर पर वस्तु तो फिर क्षण मात्रमें छोड़ी जा सकेगी।

पुरुषमें पुरुषत्वपना अपनेको जानने पर ही आता है और पुरुषत्वका उपदेश वही कर सकता है जो स्वयं भी पुरुष हो। ऐसे पुरुषका उपदेश जिस प्रकार पुरुषत्व उत्पन्न करता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान भी उत्पन्न करता है। इस लिए ऐसे ही पुरुषत्वकी आवश्यकता है जो आत्मज्ञान पैदा कर सके। बाकी आत्मज्ञान-हीन पुरुष सच्चा पुरुष उत्पन्न ही नहीं कर सकता।

इसके लिए आत्मज्ञानी गुरु होने चाहिए। क्योंकि एक दीयेसे जिस प्रकार जितने चाहो उतने दीये जोये जा सकते हैं उसी प्रकार एक आत्मज्ञानी गुरुके द्वारा जितने जीव चाहे उतने आत्मज्ञानी बन सकते हैं। ऐसे मनुष्य शुद्ध दशा प्राप्त कर शुभ क्रिया द्वारा अशुभका तो पूर्णपने क्षय करते ही हैं, पर बादमें शुभका भी क्षय कर अनन्त कैवल्य लाभ करते हैं।

* * * * *

आत्मज्ञान होनेके चिह्न—

अवरो ण णिंदिअव्वो पसंसिअव्वो कदावि ण हु अप्पा।
समभावो कायव्वो बोहस्स रहस्समिणमेव ॥ ४० ॥

अपरो न निन्दितव्यः प्रशंसितव्यः कदापि न खलु आत्मा।
समभावः कर्त्तव्य बोधस्य रहस्यमिदम् ॥

अर्थात् न किसीकी निन्दा करनी चाहिए और न अपनी प्रशंसा करनी चाहिए। किन्तु सब पर समभाव रखना चाहिए। यही आत्मज्ञानका रहस्य है।

विवेचन—जिसे अपने स्वरूपका अनुभव हो गया है या उसकी पर छाँई भी एक बार दिखाई पड़ गई है तो उस आत्मामें ये चिह्न प्रगट हो जाते हैं। वह फिर किसीकी निन्दा-बुराई नहीं करता। कारण आत्मानुभव हो जाने पर अपने गत पापोंकी आलोचना ही कौन थोड़ी होती है जिसे छोड़ कर वह दूसरोंकी निन्दा-बुराई करने बैठे; और इसी प्रकार उसे अपनी प्रशंसाका उस समय नहीं मिलता। क्योंकि उसका हृदय इतना उदार हो जाता है कि फिर वह अन्य जनोंके गुणोंकी सदा प्रशंसा ही करता रहता है। इन दो चिन्होंसे वह अपने दोषोंकी आलोचना कर उन्हें दूर करने और दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा कर उन्हें ग्रहण करनेका यत्न करता रहता है। इसके लिए एक तीसरा चिह्न और है, जिससे आत्मानुभवकी ज्योतिके दर्शन हुए हों तो ज्ञान हो जाता है। वह यह कि ऐसा आत्मा अपनेको और दूसरेको समान भावसे देखने लगता है। अपनेमें या दूसरेमें दोषोंको देख कर उन्हें दूर करने और गुणोंको देख कर उन्हें बढ़ानेका यत्न करता है। पर-निन्दा और अपनी स्तुतिको वह कर्मका परिणाम समझ कर सूर्यकी भाँति निरपेक्ष हो सर्वत्र समभाव रखता है। और समझता है कि जिस प्रकार सूर्य सबको प्रकाशित करता है उसी प्रकार मैं भी सबको देखता-जानता हूँ और अपने ज्ञान द्वारा प्रकाशित कर रहा हूँ। इस प्रकार ये तीन चिह्न जिसमें दिखाई पड़ें समझना चाहिए कि उसे आत्मानुभव या आत्म-ज्योतिके दर्शन हुए हैं।

जिसे आत्मानुभव होता है, वह जीव निश्चयसे सम्यक्त्वी होता है, ेद-विज्ञानी होता है। वह संसार-शरीरादिकको अपनेसे सर्वथा भिन्न मझता है। ऊपर बताये हुए तीन चिह्न—पर-निन्दा न करना, अपनी शंसा न करना और सबमें सम-भाव रखना—उसके सम्यक्त्वकी हचान करानेके बाह्य साधन हैं। यह सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानमें ता है। इस गुणस्थानमें जो आत्मानुभव होता है उसे विशेष बढ़ानेके

लिए वह आगे आगेके गुणस्थानोंमें चढ़ता जाता है। परिणामोंकी बढ़ती हुई अधिक निर्मलता ही ऊपरके गुणस्थानोंकी कारण है। पानीमें डूबी हुई तूँबड़ी परकी मिट्टी जैसे धीरे धीरे साफ होजानेसे फिर तूँबड़ी पानीके बाहर आ जाती है उसी प्रकार आत्मा सम्यक्त्वके प्रभावसे धीरे धीरे कर्मोंका नाश कर अन्तमें लोक-शिखरके ऊपर पहुँच जाता है।

मोक्षका कारण समभाव है। रत्नशेखर सूरिने कहा है कि—

सेयंवरो य आसंवरो य बुद्धो अहय अण्णो वा।
समभावभाविअप्पा लहइ मोक्खं ण संदेहो॥

अर्थात्—श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई हो, किन्तु जिसने अपने आत्मामें समभाव पैदा कर लिया वह निस्सन्देह मोक्ष प्राप्त करता है।

इसका कारण यह है कि मोक्षगामी आत्माके सदा समभाव रहते हैं। उसे किसी पर राग-द्वेष नहीं होता। देखो, श्वेताम्बरका अर्थ है सफेद कपड़े पहननेवाला। परन्तु आत्मासे ये दोनों ही—सफेद कपड़ा और उसे पहननेवाला—भिन्न हैं। आत्मा तो इनका देखने-जाननेवाला मात्र है। इसी प्रकार दिगम्बरपना और बुद्ध वेश ये भी केवल बाह्य साधन हैं। आत्मा तो इन से भिन्न है और इन वेशोंका देखने-जाननेवाला है। जिस प्रकार सूर्य निरपेक्ष रह कर अपने प्रकाश द्वारा जानता देखता रहता है उसी प्रकार आत्मा भी समभाव-रूप प्रकाशमें रह कर सबको जानता-देखता और निज स्वरूपका आत्मामें अनुभव करता है।

आत्मा जब अपने पाप-कर्मोंकी आलोचना करने लगता है तब जान पड़ता है कि वह अपने पाप-कर्मोंको दूर करनेके यत्नमें लग रहा है। वह अनुभव करता है कि जैसे मैं नरकोंमेंसे निकल रहा हूँ—दुःखके कारण पाप-कर्मको दूर कर दुःख-रहित हो रहा हूँ। उसे यह गुण दूसरोंकी निन्दा न करने और अपने अवगुण—पापों-को दूर करनेके कारणसे प्राप्त होता है।

...सबमें गुण ही गुण देख कर—अच्छा ही

उनकी प्रशंसा करता है उससे उसे यह भान होता कि मैं मनुष्य लोकमें नहीं किन्तु स्वर्गमें हूं, जहाँ कि सुख ही सुख है।

तीसरे जब उसके समभाव हो जाते हैं—यथार्थ दृष्टि हो जाती है—तब उसमें निन्दा और स्तुति दोनों ही नहीं रहती। अपने पापोंकी आलोचनासे—परिणामोंकी अधिक अधिक निर्मलतासे—जैसे नरकगतिका बन्द होना रुक जाता उसी है प्रकार पर गुणोंकी प्रशंसा—पुण्यबन्धके कारणके—न रहनेसे स्वर्गका बन्ध होना भी रुक जाता है। वह समभावमें स्थित रह, ज्ञानादि स्वरूपको जान कर चौथे गुणस्थानमें मोक्षके सुखका कुछ आभास प्राप्त करता है।

[illegible]

नन्दमें लीन रह, केवल संवर भावोंमें निमग्न हो सातवें गुणस्थानका पूर्ण आनन्द प्राप्त करते हैं।

आत्मज्ञानकी इच्छा करनेवालेको क्या करना चाहिए—

परसखितं भंजसु रंजसु अप्पाणमप्पणा चेव
वज्जसु विकहा जइ इच्छसि अप्पविण्णाणं ॥ ४१ ॥

परसाक्षित्वं भङ्धि रञ्जयात्मानमात्मना चैव।
वर्जय विकथा यदीच्छसि आत्मविज्ञानम्

अर्थात्—हे आत्मन्, यदि तू आत्मज्ञानके प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो दूसरेकी साक्षीको छोड़ कर आत्माको आत्माके ही द्वारा रंजायमान कर—प्रसन्न कर, और विकथा करना छोड़ दे।

विवेचन—आत्मानुभव होनेके लिए तीन बातें ध्यानमें रखनी चाहिए। पहली यह कि दूसरे लोग आत्माका स्वरूप चाहे जैसा कहते हों उनकी गवाहीकी अपेक्षा न कर स्वयं तुझे ही उसका साक्षात्कार करना चाहिए। दूसरी यह कि अन्य जनोंको प्रसन्न करना छोड़ कर अपने आत्माको ही

प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना चाहिए। और तीसरे आत्माकी निन्दा-बुराई अथवा विकथा करना छोड़ देना चाहिए। ऐसा करनेसे ही आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है और जिन्हें आत्मज्ञान या आत्मानुभव होता है उन्हें ही परमात्माका ज्ञान होता है। क्योंकि आत्माका जो मूल स्वभाव है वही परमात्म-स्वभाव है। जो आत्माके स्वाभाविक गुण हैं वे ही परमात्माके स्वाभाविक गुण हैं।

* *

आत्माको क्या करना चाहिए—

तं भणसु गणसु वायसु जायसु उवइससु आयरेसु।
जिअ खणमित्तमपि विअखण आयारामे रमसि जेण॥

तद् भण गणय वाचय ध्यायय उपदिश आचर।
जीव क्षणमात्रमपि विचक्षण आत्मारामे रमसि येन॥

अर्थात्—हे आत्मन्, तू विचक्षण होकर—बुद्धिशाली होकर—क्षणभरके लिए भी वही कह, वही गिन, वही पढ़, उसीका ध्यान कर, उसीका उपदेश कर और उसीका आचरण कर जिससे कि तू आत्म-रूपी बागमें विहार कर सके।

विवेचन—पहले 'आत्मा' इस शब्दको सुनना चाहिए। इसके बाद इसको याद करना चाहिए। इसके बाद शब्दको छोड़-कर उसके अर्थका मनन करना चाहिए। इसके बाद जब आत्माकी मनमें प्रतीत हो जाय तब उसका ध्यान करना चाहिए। और ध्यानके सिवा अन्य समयमें जो जो बातें जान पड़े वे उसे समझानी चाहिए। और अपने मन-वचन-कार्यको उसी तरह आचरणमें लाना चाहिए, जिससे आत्मशक्तियाँ विकसित होने लगें—आत्मामें स्फुरण होता जाय। ऐसा करनेसे हे आत्मन्, तू निश्चयसे आत्मोद्यानमें विहार कर सकेगा; और उस उद्यानके अनन्त गुण-रूप फूल-फल तुझे प्राप्त होंगे।

* *

उपसंहार—

इति जाणऊण तत्तं गुरूवइट्ठं परं कुण पयत्तं।
लहिऊण केवलसिरिं जेण जयसेहरो होसि ॥ ४३ ॥

इति ज्ञात्वा तत्त्वं गुरूपदिष्टं परं कुरु प्रयत्नं।
लब्ध्वा केवलश्रियं येन जयशेखरो भवसि ॥

अर्थात्—हे आत्मन्, इस प्रकार गुरुके उपदेश किये तत्त्वको जानकर उसकी प्राप्तिके लिए तू प्रयत्न कर, जिससे कि केवलज्ञान प्राप्त कर जयशेखर–कर्म-जयी–हो सके।

विवेचन—पहले, गुरुने जैसा तत्त्वका उपदेश किया हो उसे जानना चाहिए। फिर उसका अनुभव करनेके लिए ध्यानका प्रयत्न करना चाहिए ऐसा करनेसे आत्मामें जो निश्चल समाधि होगी उससे चार घातिया कर्मोंका नाश होकर केवलज्ञान प्राप्त होगा—आत्मा अनन्त अव्याबाध सुखमें मग्न होगा। आत्माकी इसी अवस्थाको 'जीवन-मुक्त' दशा कहते हैं। इसके बाद वह चार अघातिया कर्मोंका भी नाश कर 'जयशेखर' हो जायगा—सिद्ध-स्वरूप हो जायगा। ग्रन्थकारका नाम भी 'जयशेखर' है। इसका अर्थ है—'जयके शिखर पर आरूढ़ होना।' मतलब यह कि आत्मध्यानसे आत्मा 'जयशेखर' हो सकेगा—सिद्ध-पद लाभ कर सकेगा। और सिद्ध-पदका लाभ करना ही इस ग्रन्थका फल है। इस लिए लेखककी इच्छा है कि सब आत्मानुभव कर परमात्म-पद लाभ करें।

